आचार्य सायण और माधव

श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य

२००३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशकीय

वेद हमारी भारतीय संस्कृति के ही नहीं वरन् विश्व संस्कृति के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। भारतीय सभ्यता की सर्वमान्य प्रतिष्ठा वेदों पर ही अवलंबित है। विशेषतया हिन्दू जाति के आचार-विचार रहन सहन धर्म-कर्म आदि को समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। इनकी महान् प्रतिष्ठा के लिए इससे बढ़कर दूसरा प्रमाण क्या होगा कि ये 'भगवान्' कहे जाते हैं। सामान्य लोग इनकी पुस्तकों का भगवद्-विग्रहों के समान पूजन करते हैं। प्राचीन ऋषियों तक ने इनके पठन-पाठनादि के विशेष नियमों द्वारा इनकी प्राचीन कालिक प्रतिष्ठा का संकेत किया है। धर्मशास्त्रकार स्वायम्भुव मनु के शब्दों में इन वेदों का अनुशीलन करनेवाला इस मर्त्यलोक में भी ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव करता है। जो हो, वेदों की महत्ता में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। पर उनका पठन-पाठन वर्तमान काल में बहुत पिछड़ा हुआ है। यद्यपि बहुत अंशों में हमारी नैतिक परतन्त्रता ही इसका कारण है, पर कुछ अंशों में इसकी भाषागत एवं विषयगत दुर्बोधता भी कारण बनी हुई है। आचार्य सायण ने वेदों पर विस्तृत भाष्य किया है। उससे इनके भावार्थ-प्रकाशन में विशेष सुविधाएं मिली हैं। यद्यपि अनेक पाश्चात्य विद्वानों की टीकाओं तथा भाष्यों ने वेदार्थानुचिन्तन में पर्याप्त सहयोग किया है पर प्राचीन काल से प्रचलित अर्थपरम्परा का स्रोत हमें सायण से ही सम्भव हो सका है। आचार्य माधव भी सायण के प्रकृत कार्य में अनन्य सहयोगी थे। ऐसे दो महान् उपकारी ग्रन्थकारों के जीवन वृत्त एवं सैद्धांतिक मतों के परिचय से हम अभी तक अनभिज्ञ-से थे। श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने इस ग्रन्थ में बड़ी विद्वत्ता और खोज के साथ उक्त विषयों का प्रतिपादन कर सफलता प्राप्त की है। भारतीय दर्शन के आप स्वयं एक अच्छे विवेचक हैं। अतः ऐसे खोजपूर्ण एवं दार्शनिक विषय के प्रतिपादन में आपको जो सफलता मिली है, वह स्वाभाविक ही है। अपनी सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा शैली से आपने प्रकृत पुस्तक को और भी उपादेय तथा रोचक बना दिया है।

श्री विक्रम द्विसहस्राब्दि के अवसर पर सम्मेलन की साहित्य-समिति में विक्रम ग्रन्थावली नामक एक नवीन पुस्तकमाला प्रकाशित करने की योजना स्वीकृत हुई थी। उक्त ग्रन्थावली की यह प्रथम पुस्तक है। आशा है भविष्य में भी ऐसे ग्रन्थरत्नों से उक्त ग्रन्थावली की श्रीवृद्धि होती रहेगी।

रामचंद्र टंडन

सौर श्रावण ५, २००३ साहित्य मंत्री

प्राक्कथन

भारतीय-साहित्य में वेदों का स्थान सर्वप्रथम है। संसार की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्राचीन साहित्यिक निधि होने के कारण इनका मूल्य जितना भी अधिक कूता जाय उतना ही थोड़ा है। सच तो यह है कि वेद ही हमारे धर्म के मूल स्रोत हैं—वेदोऽखिलो धर्ममूलम् तथा आजकल का पौराणिक हिन्दू धर्म वेदों के ऊपर ही अवलम्बित है। भाषा विज्ञान के क्षेत्र में वेदों की कितनी महत्ता है यह विद्वानों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ब्राह्मणों के लिये निष्कारण षडङ्ग वेद का अध्ययन आवश्यक बतलाया है। हमारे देश में एक वह भी समय था जब प्रत्येक घर में वेद-पाठ हुआ करता था और मनुष्य तो क्या पक्षी भी उससे अपरिचित न थे। बाण ने लिखा है कि उनके घर के पिंजरे में रहनेवाले तोते यजुर्वेद तथा सामवेद पढ़नेवाले विद्यार्थियों को अशुद्ध उच्चारण करने पर, बीच ही में रोक दिया करते थे।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय-साहित्य में वेदों का स्थान अद्वितीय है और एक समय में इनका इस देश में प्रचुर प्रचार भी था। इन्हीं वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य थे जिनके चरित का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है यद्यपि सायण के पहिले वेदों के ऊपर अनेक भाष्य लिखे गये थे परन्तु सायण के समान प्रायः चारों वेदों पर साधिकार भाष्य लिखनेवाला न कोई था और न आज वर्तमान है। वेद के कठिन अर्थों तथा गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन के लिये इनका भाष्य ही हमारा एकमात्र सहायक है और वेद के गूढार्थों की अटवी में भटकने वालों के लिये प्रकाश स्तम्भ का काम करता है। यद्यपि राथ आदि विद्वान् सायण के भाष्य को उतनी महत्ता प्रदान नहीं

---

[1] निगृह्यमाणाः वटवः पदेपदे यजूंषि सामानि च यस्य शंकिताः। कादम्बरी

करते परन्तु आधुनिक अनेक पाश्चात्य वैदिक विद्वानों ने भी मुक्त कण्ठ से सायणाचार्य की प्रशंसा की है और उन्हें अपना एक मात्र पथ-प्रदर्शक माना है। सच तो यह है कि यदि सायण का भाष्य न होता तो वेदों का अर्थ समझाना कठिन ही नहीं प्रत्युत असंभव हो जाता। अतः सायण के इस महान् उपकार को हम कभी भुला नहीं सकते।

सायणाचार्य के बड़े भाई का नाम माधवाचार्य था जो 'शंकर दिग्विजय' के कर्ता के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि यह ग्रन्थ इनकी रचना है अथवा नहीं इसमें विद्वानों को सन्देह है। माधवाचार्य का व्यक्तित्व भी कुछ कम महान् नहीं था। जीवन के यौवन में विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक के रूप में हम इन्हें पाते हैं और जीवन की गोधूली में शृङ्गेरी मठके शङ्कराचार्य के पवित्र सिंहासनपर ये प्रतिष्ठित दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार इनका सारा जीवन कर्म तथा ज्ञान का अपूर्व सामञ्जस्य है। हम कभी तो इन्हें बुक्क महीपति को राजनीति की शिक्षा देते पाते हैं तो कभी शृङ्गेरी की साधु-मण्डली में ज्ञान की चर्चा करते हुये देखते हैं। इन्होंने अपने बहुधन्धी जीवन में क्या-क्या नहीं किया ? विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की, हरिहर तथा बुक्क के राज-शासन में योग दिया, अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता होने का गौरव प्राप्त किया और अन्त में विद्यारण्य स्वामी के रूप में धार्मिक संसार की 'जगद्गुरु' की महती पदवी को विभूषित किया। इसी से इनके विशाल व्यक्तित्व तथा बहुमुखी प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है।

परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि वेदों के उद्धारकर्ता सायणाचार्य तथा विजयनगर के साम्राज्य के संस्थापक माधवाचार्य को आज हम भूल-से गये हैं। इनके जीवनचरित का विषय अज्ञान के गर्त में विलीन हो गया है। वस्तुतः भाइयों की ऐसी अद्भुत जोड़ी मिलनी असंभव है। क्या यह विषाद का विषय नहीं है कि ऐसे इतिहास प्रसिद्ध आचार्यों का जीवनचरित हिन्दी में तो क्या अन्य भी किसी भाषा में—जहाँ तक मुझे ज्ञात है—आज भी उपलब्ध नहीं है ? इस त्रुटि को दूर करने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है। यदि इस पुस्तक को पढ़ने से किसी एक भी व्यक्ति के हृदय में राष्ट्रीय चेतना की जागृति हुई तथा अपने पूर्वजों के प्रति गौरव उत्पन्न हुआ तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा। इस पुस्तक को लिखने

में जिन लेखकों तथा पुस्तकों से मुझे सहायता मिली है उनका निर्देश पाद-टिप्पणी में कर दिया गया है। मैं अपने उन सभी मित्रों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा की तथा इसमें सक्रिय सहायता पहुँचायी।

रथयात्रा, २००३
काशी

बलदेव उपाध्याय

विषय सूची

द्वितीय खण्ड

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

तृतीय खण्ड

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

प्रथम खण्ड

प्रथम परिच्छेद

विषय-प्रवेश

भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान को भली भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। यह वह मूल स्थान है जहाँ से हिन्दू धर्म का स्रोत प्रवाहित हुआ तथा भारतीय तत्त्वज्ञान की विविध रहस्यमयी धाराएँ निकलीं और जिसकी निरन्तर विविध विध सहायता से पुष्ट होकर ये भिन्न-भिन्न स्थानों से होती भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हुई आज भी जिज्ञासु जन के चित्त को सन्तोष प्रदान कर रही हैं तथा भारतीय तत्त्वचिन्ता के प्रेमी विद्वानों को आनन्दित कर रही हैं। इस संसार में सबसे प्राचीन पुस्तक होने का ही महान् गौरव इन्हें नहीं प्राप्त है, प्रत्युत संसार के रहस्यों को सुलझाने वाले, विभिन्नता में भी एकता को अनुभव करने वाले तथा परमार्थ भूत आध्यात्मिक तत्त्वों के साक्षात् करने वाले ज्ञान गरिमा सम्पन्न महनीय मुनियों तथा ऋषियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत तथ्यों के भाण्डागार होनेका भी समुन्नत श्रेय इन्हें सन्तत प्राप्त है। इन वेदों के अर्थ का परिज्ञान हिन्दू धर्म के स्वरूप, आरम्भ तथा विकाश के समझने में कितना उपकारक है, इसे भारतीय सभ्यता के प्रेमी जानते ही हैं। परन्तु इन वेदों के अर्थ का समझना अत्यन्त कठिन कार्य है। इनका आविर्भाव इतने सुदूर प्राचीन काल में हुआ कि इनका अर्थ ठीक ठीक जानना अत्यन्त कठिन है। वेदों का सुदूर प्राचीन काल में आविर्भाव हुआ था, इस कारण से उनकी दुर्ज्ञेयता बनी ही हुई है। साथ ही साथ उनकी भाषा ने भी उन्हें दुरूह बना डाला है। इन कारणों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ है कि भगवती श्रुति के गूढ अर्थों का ठीक-ठीक अर्थ करना नितान्त कठिन कार्य प्रतीत हो गया है।

वेदों के अर्थ समझने में तथा गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में ब्राह्मण ग्रन्थों से सबसे प्रथम सहायता प्राप्त होती है। एक प्रकार से ब्राह्मणग्रन्थ

मन्त्रों की कुंजी हैं जिनके साहाय्य से उनका रहस्यमय अर्थ खोला जा सकता है। वेदार्थ के समझने में निरुक्त तथा व्याकरण से भी पर्याप्त सहायता मिलती है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ तुलना में उनका स्थान कुछ न्यून ठहरता है। सच तो यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे हुए इन व्याख्या सूत्रों को पकड़ कर ही निघण्टु तथा निरुक्त की रचना कालान्तर में की गई। इन व्याख्या ग्रन्थों का मूल ब्राह्मण ग्रन्थ ही ठहरता है। मध्ययुग के वैदिक भाष्यकार इस तारतम्य से सर्वथा परिचित थे। ऋग्वेद के पूर्व-सायण काल के प्रसिद्ध भाष्य-कार वेंकट माधव ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि मन्त्रों के अज्ञात तथा सन्दिग्ध अर्थों का निर्णय वृद्धों से किया जा सकता है। वृद्ध कौन हैं? वे नहीं जिनके ऊपर बुढ़ापा ने आक्रमण किया है तथा जिनके शरीर तथा मस्तिष्क को जर्जर बना डाला है, बल्कि वृद्ध वे सज्जन हैं जो ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के सतत अध्ययन से इनमें निष्णात हो गए हैं जो ब्राह्मणों के अर्थों के विवेचन करने वाले हैं। ये ही पण्डित जन यथार्थ रूप से शब्द रीति को जानते हैं तथा वेद के समग्र अर्थ को ठीक ढंग से प्रतिपादित कर सकते हैं। परन्तु जिन लोगों ने निरुक्त* तथा व्याकरण के अध्ययन में परिश्रम किया है, क्या वे लोग वेद का समस्त अर्थ नहीं जानते? वेंकट माधव का तो यह कहना है कि ये लोग वेद के केवल चौथाई भाग को ही जानते हैं। इससे अधिक नहीं।* तात्पर्य यह है कि वेद के अर्थ ज्ञान में ब्राह्मण तथा आरण्यक से परिचय की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि इन्हीं ग्रन्थों में प्रसङ्गतः वेदार्थ के प्रतिपादन शैली का निदर्शन किया है जिनके आधार पर ही गूढ़ार्थाभिसम्पन्न श्रुति का रहस्य जाना जा सकता है।

---

* येऽज्ञाता ये च सन्दिग्धा स्तेषां वृद्धेषु निर्णयः।
एतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते॥
× × ×
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्त व्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में दिए गए इन सूत्रों को ही पकड़कर कालान्तर में ऋषियों ने 'निघण्टुओं' की रचना की। इन निघण्टुओं में वेद के कठिन शब्दों के अर्थ का निरूपण किया गया है तथा समानार्थक और भिन्नार्थक वैदिक शब्दों का एक उपयोगी संग्रह प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं निघण्टुओं की विस्तृत व्याख्याएँ कालान्तर में लिखी गई जिनका नाम 'निरुक्त' है। आजकल तो केवल महर्षि यास्क कृत एक ही निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु किसी समय में १४ निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध थे। दुर्गाचार्य ने निरुक्त की व्याख्या में 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम्'[1] तथा 'निरुक्तं चतुर्दशधा'[2] लिखकर निरुक्त ग्रन्थों की संख्या को १४ होने का संकेत किया है। यास्क के निरुक्त में १२ प्राचीन निरुक्तकारों का उल्लेख मिलता है उनके नाम थे—(१) आग्रायण, (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णवाभ, (५) कात्थक्य (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव (९) तैटीकि (१०) वार्ष्यायणि (११) शाकपूणि तथा (१२) स्थौलाष्ठीवि। इन निरुक्तकारों के मत तथा सिद्धान्तों का उल्लेख यास्क ने स्वयं अपने ग्रन्थ में अनेक बार किया है। इन आचार्यों ने भी प्राचीन निघण्टुओं पर व्याख्याएँ लिखीं। यदि ये समग्र निरुक्त ग्रन्थ आजकल प्राप्त होते तो वैदिक साहित्य का कितना अधिक उपकार होता, इसका हम अनुमान अच्छे ढङ्ग से कर सकते हैं।

यास्क-निरुक्त

महर्षि यास्क का निरुक्त ग्रन्थ ही निरुक्त नामक वेदाङ्ग का केवल मात्र प्रतिनिधि है। परन्तु इस अकेले ग्रन्थ से ही वेदार्थानुसन्धान में विशेषतः सहायता प्राप्त हुई है। यास्क के ग्रन्थ में १४ अध्याय हैं जिनमें निघण्टु के पाँच अध्यायों में निर्दिष्ट तथा संगृहीत वैदिक शब्दों की विस्तृत प्रामाणिक व्याख्या है। यास्क का साधारण ढंग यह है कि उन्होंने पहले निघण्टु के प्रत्येक शब्द की व्याख्या तथा निरुक्ति दिखलाई है तथा इसके अनन्तर वैदिक मंत्र को दिया है जिसमें वह शब्द प्रयुक्त मिलता है। प्रत्येक शब्द की व्याख्या तथा निरुक्ति दिखलाकर सम्पूर्ण मंत्र का अर्थ प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार यास्क की सहायता से हम अनेक मन्त्रों के अर्थ समझने में समर्थ होते हैं। वेदकी

[1] निरुक्तभाष्य १।१३

[2] वही १।२०

अर्थ मीमांसा का परिचायक यही ग्रन्थ सब से प्राचीन माना जाता है। इसमें वेद मंत्रों की समुचित व्याख्या भी है, परन्तु इतने कम मंत्रों की, कि विपुल वेदराशि का एक अत्यन्त स्वल्प अंश ही इसके द्वारा गतार्थ होता है। इस प्रकार यास्क के निरुक्त के द्वारा वेदार्थ मीमांसा पद्धति का मार्ग प्रदर्शन मात्र होता है, परन्तु इतनी भी सहायता बड़े महत्त्व की है।

अब तक वेद मन्त्रों के सहायक कतिपय व्याख्या ग्रन्थों का वर्णन किया गया है। प्राचीन काल के पण्डितजन इन्हीं ग्रन्थों की सहायता से वेद मन्त्रों के अर्थ को समझ लेते थे। प्राचीन जीवित परम्परा से वे पर्याप्त मात्रा में परिचित थे, अतः परम्परा के आधार पर वेद के षडङ्गों की अमूल्य सहायता से वे अनायास ही वेदार्थ को समझ लेते रहे होंगे, ऐसा अनुमान करना अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होता। परन्तु समय ने पलटा खाया, बुद्ध धर्म के प्रचार के साथ साथ वैदिक धर्म तथा वैदिक निष्ठा का ह्रास होने लगा। राजाश्रय प्राप्त हो जाने से बुद्ध धर्म अब एक प्रान्तीय धर्म न रहा, बल्कि समस्त भारत में तथा उसके बाहर भी इसके मानने वालों की संख्या बढ़ने लगी और देखते ही देखते इसने वैदिक धर्म को दबाकर अपना प्रभुत्व सभ्य संसार में जमाया। वैदिक धर्म समय-समय पर अपना सिर उठाया करता था, परन्तु अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण इसके प्रभाव में स्थायिता का अभाव बहुत दिनों तक बना रहा। अन्ततोगत्वा विक्रम की चतुर्थ शताब्दी में उत्तर भारत में गुप्त नरेशों का शासन स्थिर हुआ। इन परम भागवत महीपतियों ने वैदिक धर्म के पुनरुद्धार तथा पुनरुत्थान में हाथ बटाया। इनके समय में वैदिक धर्म ने अपना गौरवपूर्ण मस्तक ऊपर उठाया तथा बुद्ध धर्म की अवनति के साथ साथ इस धर्म की उन्नति विशेष रूप से होने लगी। इसी संस्कृत साहित्य के सुवर्ण युग में वेदों के भाष्य बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। वैदिकभाष्यका वाङ्मय बड़ा विशाल है तथा प्राचीनकाल का है। बहुत ग्रन्थों के केवल नाम से ही हम परिचित हैं। उपलब्ध भाष्यों की रचना गुप्त कालके अनन्तर प्रतीत होती है, परन्तु स्फूर्ति गुप्तयुग से ही उन्हें मिली है। ऋग्वेद के भाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, माधवभट्ट, तथा वेंकटमाधव आदि भाष्यकार पर्याप्तरूपेण प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता का भाष्य भट्टभास्कर मिश्र ने तथा सामसंहिता का भाष्य भरत स्वामी ने सायण से पहले बनाया था। परन्तु यह समस्त उद्योग व्यक्तिगत था, सामूहिक नहीं। भाष्यकारों ने स्वेच्छा

से भिन्न-भिन्न संहिताओं पर भाष्य लिखे हैं, परन्तु हमें किसी राजकीय प्रेरणा का अभी तक पता नहीं चलता जिसके बल पर विद्वानों ने अपने भाष्य लिखे हों। एक ही विद्वान् के द्वारा चारों वेदों पर एक समान शैली पर भाष्यों का निर्माण करना एक अभूतपूर्ण घटना है। हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करने के लिए 'विजय नगर-साम्राज्य' की स्थापना १३९२ वि० (१३३६ ई०) में दक्षिण भारत में की गई। इस राज्य की स्थापना का यही महान् उद्देश्य था कि वैदिक धर्म विधर्मी यवनों के आक्रमण से बचकर अपना अभ्युदय सम्पन्न करे। इसी उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए विजयनगर के सम्राटों की प्रेरणा से आचार्य सायण ने अनेक सुयोग्य विद्वानों के सहयोग से चारों वेदों पर भाष्य बनाये। समस्त वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों पर भाष्य लिखने का यह श्लाघनीय उद्योग पहली बार विजय नगर साम्राज्य के युग में ही किया गया। यह एक विचित्र घटना है।

शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना के विषय में भी यह बात कही जा सकती है। धर्मशास्त्र तथा कर्ममीमांसा वैदिक धर्मके समझने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। ये दोनों शास्त्र आपस में एक-दूसरे के सहायक हैं। परन्तु इन शास्त्रों के व्याख्याताओं ने अलग-अलग शास्त्रों पर व्याख्यायें लिखी थीं। मीमांसा के इतिहास में शबर स्वामी ने तृतीय शतक विक्रमी में जैमिनि मीमांसा सूत्रों पर उत्कृष्ट भाष्य बनाया जिसके सिद्धान्तों को समझने के लिए प्रभाकर ने 'बृहती' लिखी तथा भट्ट कुमारिल ने 'श्लोक वार्तिक', 'तन्त्र वार्तिक' और 'टुप्टीका' की रचना की। पिछले काल में भिन्न-भिन्न मीमांसकों ने अपने मतानुसार ग्रन्थों की रचना की। धर्मशास्त्र के स्मृति ग्रंथों पर भाष्य लिखने वाले विद्वानों की कमी न थी, परन्तु उभय शास्त्र के मान्य सिद्धान्तों को जनता के सामने रखने का यह प्रयत्न एकदम नवीन था। माधवाचार्य की प्रतिभा का यह विलास है कि 'पराशर माधव' तथा 'काल माधव' जैसे प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ और 'जैमिनि-न्याय माला' जैसा माननीय मीमांसा ग्रन्थ हमें एक ही साथ प्राप्त हुआ। अद्वैत वेदान्त के गूढ़ सिद्धान्तों का परिचय देने का प्रयत्न कम स्तुत्य नहीं है। इस प्रकार हिन्दू धर्म के प्रमाणभूत समस्त ग्रन्थों के ऊपर सामूहिक रूप से भाष्य लिखने की स्फूर्ति तथा प्रेरणा देने के लिए यदि हम किसी के ऋणी हैं तो विजय नगर साम्राज्य के स्थापक महाराज हरिहर तथा बुक्कराय के और यदि हिन्दू धार्मिक साहित्य

के पुनरुद्धार का किसी को श्रेय प्राप्त है तो वह इन्हीं दोनों भाइयों को है जिनमें जेठे का नाम था माधवाचार्य तथा छोटे का सायणाचार्य।

इन भ्राताओं का कार्य हमारे लिए नितान्त गौरवपूर्ण है। यदि हमें सायणाचार्य के वेदभाष्य नहीं उपलब्ध होते, तो भगवती श्रुतिका जो कुछभी अर्थ हम आज समझ रहे हैं वहभी हमारे लिए दुर्गम हो जाता। आजकल भारत में तथा पाश्चात्य जगत् में वेदों के अर्थ समझने का जो कुछ भी प्रयत्न हो रहा है वह सायण भाष्य के अनुशीलन का ही फल है। उसी प्रकार धर्मशास्त्र तथा मीमांसाके रहस्यों को बोधगम्य बनाने में माधवाचार्य का विशेष हाथ है। दोनों भ्राताओं ने संस्कृत साहित्य के इतिहासमें अपनी गौरवपूर्ण कृतियों से युगान्तर उपस्थित कर दिया है। भारतीय धर्म तथा दर्शन को इनकी देन बहुमूल्य है। ये दोनों संस्कृत साहित्याकाश के चन्द्र और सूर्य हैं। इन्हीं विभूतियों के जीवनवृत्त तथा ग्रंथों का विवरण अगले परिच्छेदों में किया जायगा।

द्वितीय परिच्छेद

सायण-पूर्व भारत

किसी ग्रन्थकार के चरित तथा कार्य को ठीक ढंग से समझने के लिए उसके समय की तथा पूर्व की विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का गहरा अध्ययन नितान्त आवश्यक है। विचारधाराओं को बिना जाने हम उस ग्रन्थकार के न तो चरित्र को ही उचित रीति से समझ सकते हैं और न उसके कार्य के महत्त्व को ही भली भाँति माप सकते हैं। ग्रन्थकार अपने समय की उपज है। अमेरिका के प्रसिद्ध आध्यात्मिक लेखक इमर्सन का यह कथन नितान्त सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों के द्वारा उपार्जित ज्ञान समुदाय का आगार है और प्रत्येक ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थों का "उद्धरणमात्र" है। ग्रन्थकार अपने पूर्व लेखक के ज्ञान तथा भावसमूह की एक जीती जागती सामूहिक मूर्ति होता है। परन्तु फिर भी वह ग्रन्थकार अपने समय की उपज हुए बिना नहीं रह सकता। उसके जीवन को जिस पहलू से देखिएगा, उसी में 'अतीत' के साथ 'वर्तमान्' भी झाँकता हुआ दिखलाई पड़ेगा। इसीलिए हमारा कहना है कि ग्रन्थकार के चरित्र तथा कार्य के गम्भीर अध्ययन के लिए उसके समयकी तथा उसके पूर्व की भिन्न भिन्न विचारधाराओं के संघर्ष का उचित अनुशीलन करना चाहिए।

इसी नियम से प्रेरित होकर हम भी अपने चरितनायक श्रीसायणाचार्य तथा माधवाचार्य के जीवन चरित, ग्रन्थ तथा कार्य के विवरण प्रस्तुत करने से पहले उनके समय की तथा पूर्व की अवस्था का परिचय अपने पाठकों से करा देना ठीक समझते हैं। अतः इस परिच्छेद में सायण-पूर्व भारत का चित्र अंकित किया जायेगा। इस चित्र का पूरा खाका हमारे सामने खिंच जाय; इसके लिए हम उस समय के भारत की दशा को तीन विभागों में विभक्त कर अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे। ये तीनों विभाग निम्नलिखित प्रकार से माने जा सकते हैं :—

(१) राजनैतिक
(२) धार्मिक
(३) साहित्यिक

श्रीसायणाचार्य का जीवन चरित तथा कार्य भी इन तीनों विभागों से अधिक या न्यून मात्रामें, सम्बन्ध रखता है। अतः इन तीनों विभागों का अलग-अलग अध्ययन अनुचित न होगा। आशा है कि इनके अनुशीलन से पाठक भली भाँति समझ जावेंगे कि श्री सायणाचार्य तथा उनके जेठे भाई श्री माधवाचार्य के कार्य का कितना महत्त्व है तथा भारतीय संस्कृति के इतिहास में इन भाइयों का कितना ऊँचा स्थान है।

(१) राजनैतिक दशा

तेरहवीं सदी में दक्षिण भारत

ग्यारहवीं तथा बारहवीं सदी में विन्ध्याचल के दक्षिण के समस्त प्रदेश 'चालुक्य' नामक राजाओं के थे। विविध कारणों से चालुक्यों का कीर्तिचन्द्र अस्त हो गया; उनके शासन का अन्त हो गया। उनके राज्य के नाश होने पर तीन भिन्न-भिन्न राज्य वंशों का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने उनके विस्तृत राज्य को अपने में बाँट डाला और उसके एक एक विभाग पर स्वतन्त्र रूप से शासन करना आरम्भ किया। इनमें सब से उत्तर में 'यादव' राजवंश था जिसकी राजधानी 'देवगिरि' थी। इनके राज्य के दक्षिण-पूर्व में 'काकतीय' नरेशों का शासन-क्षेत्र था जिनकी राजधानी 'वारंगल' नामक नगर था। इन का राज्य कृष्णा नदी के मुहाने तक फैला था। ये पहले चालुक्यों के सामन्त थे तथा आजकल के हैदराबाद के निज़ाम के प्रान्तों पर अनमकोण्ड को अपनी राजधानी बनाकर शासन करते थे, परन्तु पीछे स्वतन्त्र होने पर इन लोगों ने वारंगल को अपनी राजधानी बनाई। यहाँ से इनकी राज्य सीमा पूर्वी चालुक्य नरेशों की घटती हुई शक्ति के कारण पूरब की ओर बढ़ने लगी। इस वंश में सब से अधिक प्रतापशाली राजा गणपति हुए, जिनके समय में इस वंश ने और भी उन्नति की।

तीसरा राजवंश 'होयसल' के नाम से प्रसिद्ध है जिनका प्रधान नगर 'द्वार समुद्र' था। इस वंश के अपने समय के विशेष प्रतापी तथा प्रबल अनेक नरेश उत्पन्न हुए। इनका देवगिरि के यादवों के साथ राज्यसीमा के लिए बड़ा युद्ध हुआ करता था। अन्त में कृष्णा नदी दोनों की राज्यसीमा मानी

गई जिसके उत्तर ओर यादवों का राज्य था तथा इसके दक्षिण ओर होयसलों ने अपना शासन क्षेत्र स्थापित किया। इसके सुप्रसिद्ध शासक विष्णुदेव या विष्णुवर्धन थे जिनका बिट्टिदेव नाम से उल्लेख रामानुज सम्प्रदाय के इतिहास में विशेष रूप से मिलता है और जिन्होंने इस वंश को भी वीर कार्यावली के कारण प्रतिष्ठा तथा गौरव के पद पर अधिष्ठित कराया। जब रामानुजाचार्य शैव चोल राजाओं के उत्पीड़न से अत्यन्त तंग हो गए, तब इसी होयसल नरेश के शरण में वे भाग कर आए। उनकी शिक्षाओं का प्रभाव इस राजा पर खूब पड़ा और इसने वैष्णव धर्म को स्वीकार कर श्री रामानुज के मत के प्रचुर प्रचार में सहायता पहुँचाई। इस वंश के सोमेश्वर नामक राजा ने चोलों की स्थिति इतनी डाँवाडोल कर दी थी कि इनके पुत्र वीर रामनाथ के समय में चोल राज्य के देश होयसल राज्यगत समझे जाते थे। परन्तु दक्षिण के पाण्ड्य नरेशों के दबाव के कारण इनकी शक्ति चोल प्रान्तों पर अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी। इसी वंश के अन्तिम वीर नरेश वीर बल्लाल तृतीय हुए जिनका यहाँ उल्लेख अनेक प्रसंगों में कई बार किया जायगा।

चौथा राजवंश पाण्ड्य नरेशों का था जिनका आदिम शासनक्षेत्र भारत का सुदूर दक्षिणी समुद्रतट प्रदेश था। इनमें भी विशेष प्रतापी राजा हुए जिन्होंने अपने उत्तर चोल राजाओं को जीता तथा उनके देश को अपनी अधीनता में ला उपस्थित किया। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ऐसे ही प्रभावशाली राजा थे। इनके समय में चोल देश ने इनकी अधीनता स्वीकार की। १२६८ ई० में अन्तिम प्रतापी पाण्ड्य नरेश मारवर्मन् कुलशेखर सिंहासनारूढ़ हुए तथा १३११ ई० तक शासन किया। इनके काल में चोल देश के अनेक प्रदेशों पर पाण्ड्यों की वैजयन्ती फहराने लगी और एक प्रकार से ये ही उस देश के कर्ता-धर्ता बन गए।

इस प्रकार विन्ध्याचल से दक्षिण का भारत यादव, काकतीय, होयसल तथा पाण्ड्य राज्य वंशों में बट गया था। इन चारों में किसी प्रकार की एकता न थी। अपनी राज्य सीमा के लिए ये आपस में सदा लड़ा करते थे। कृष्णा नदी के उत्तर में यादव लोग प्रतापी थे तथा दक्षिण में होयसल इस तरह ये अपने ही घर के प्रबन्ध में संलग्न थे। इन्होंने एक दूसरे को ऐक्य सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित करने का कभी स्वप्न भी न देखा था कि

२

उत्तर से एक विधर्मी प्रबल शत्रु ने देवगिरि के यादवों पर धावा बोल दिया तथा बवंडर की तरह उन्हें तहस-नहस करना शुरू किया।[१]

राजपूतों के आपस की कलह से लाभ उठाकर मुसलमानों का शासन उत्तरीय भारत में धीरे-धीरे जमने लगा। दास वंश के बादशाहों को उत्तर से ही फुरसत न थी कि वे दक्षिण की ओर अपनी नज़र फेरते। दक्षिण भारत के राजाओं से असंख्य धन लूटने तथा छीनने की इच्छा अर्थ लोलुप अलाउद्दीन खिलजी के उर्वर मस्तिष्क में उत्पन्न हुई। उसने सब से पहले दक्खिन के राजाओं पर हमला करने का विचार किया। १२९४ ई० में अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत पर हमला किया, देवगिरि के राजा रामचन्द्र यादव को हराया तथा उनसे अतुल सम्पत्ति लेकर वह दिल्ली लौट आया।

मुसलमानों का दक्षिण पर आक्रमण

अलाउद्दीन का विचार दक्खिन में अपना राज्य स्थापित करना न था, बल्कि लूट-खसोट कर अपना कोष भरना उसका प्रधान उद्देश्य था। उस समय मोगल भारत के मुसलमानी राज्य को निगल जाने की कोशिश में तुले बैठे थे। इस लिए इन्हें भारत की सीमा के बाहर रखने के लिए अलाउद्दीन ने पौने पाँच लाख आदमियों की बड़ी सेना रख छोड़ी थी, हर एक सैनिक को प्रति मास १८० दीनार दिए जाते थे तथा हर घोड़े पर २३० दीनार खर्च किया जाता था। इस कारण अलाउद्दीन का सैनिक खर्च इतना अधिक था कि साधारण लगान से यह कभी पूरा नहीं हो सकता था। इसलिए अलाउद्दीन ने भारत के प्रान्तीय शासकों पर अपना सिक्का जमाकर उनसे विपुल सम्पत्ति वसूल करने की चतुर नीति का आश्रय लिया। १३०७ में मलिक काफूर दक्खिन में हमला करने के लिए भेजा गया। उसने बहानाबाजी कर रामचन्द्र यादव को पकड़ कर दिल्ली भेज दिया। यह सेनापति अपने स्वामी से भी चतुरता में अधिक तथा क्रूरता में बढ़कर निकला। स्वतंत्रता तो थी ही; लगा मन्दिरों को लूटने तथा प्रजा को कष्ट पहुँचाने। प्रजा का धन खसोटना इसका प्रधान कार्य था। लोगों की इस भयावनी विपत्ति का एक उदाहरण स्वयं मुसलमान ऐतिहासिकों ने प्रस्तुत किया है कि

---

१ इसके विशेष विवरण के लिए देखिए—कैमब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया भाग ३ पृष्ठ ४७०-४८६।

इन लोगों ने हिंदुओं के तीस हजार फलों से लदे हुए पेड़ों को काट गिराया। इसके अत्याचार के मारे हिंदुओं के नाक में दम हो गया।

कहा गया है कि मलिक काफूर ने देवगिरि के यादव नरेश को बन्दी कर दिल्ली भेज दिया। उसके सामने काकतीय राजाओं की राजधानी वारंगल भी हार मान गई। इसी समय पाण्डय नरेश मारवर्मन् कुलशेखर के दोनों पुत्र वीर और सुन्दर अपने पिता के राज्य पाने के लिए आपस में लड़ रहे थे। परास्त किए जाने पर सुन्दर पाण्डय ने अलाउद्दीन से मदद माँगी। बस फिर क्या था? इस घरेलू युद्ध से लाभ उठाकर मलिक काफूर ने दक्षिण के वैभवशाली मन्दिरों की विशाल सम्पत्ति के लूटने के लिए रामेश्वरम् तक हमला किया तथा सुन्दर पाण्ड्य को गद्दी पर बिठाया।[1] वह हाथियों पर अतुल सम्पत्ति लाद कर दिल्ली लौटा और इस दक्षिण विजय के उपलक्ष्य में शाही दरबार में उसकी विशेष ख्याति तथा पदोन्नति हुई। इसी बीच में अलाउद्दीन मर गया और दक्षिण भारत के समस्त राजाओं ने समझ लिया कि हमारे सिर पर से एक बड़ी बला सदा के लिए टल गई। परन्तु इस भ्रान्ति का निवारण शीघ्र ही हुआ जब मुबारक ने दिल्ली तख्त पर बैठकर दक्खिन को फिर से जीतने का मन्सूबा बाँधा। उसने देवगिरि को दक्खिन में पहला मुसलमानी प्रान्त बनाया और उसके नीचे के सीमान्तों पर मुसलमानी सेना की टोलियों को ठहराया।

खिलजी वंश के अन्त होने पर मुहम्मद तुगलक की दृष्टि इस ओर फिरी। उसका मन्सूबा था कि पृथ्वी के समस्त प्रदेशों को जीत डालें। उसने उद्योग तथा कार्य दूर दृष्टि से भले किए हों, परन्तु उनमें अव्यवहारिकता अतएव पागलपन छिपा रहता था। दक्षिण पर हमला उसने भी किया। उसने सन् १३२७ ई० में होयसल नरेश को हराया। उसने अपने प्रबल आक्रमणों से समग्र देश को जीतकर तामिल प्रान्त के प्रधान नगर मदुरा में मुसलमानी सल्तनत कायम किया। उसके सूबेदार दिल्ली से यहाँ भेजे जाते थे तथा वे उसके नाम पर शासन करते थे। इस प्रकार कृष्णा नदी के उत्तर में देवगिरि तथा दक्षिण में मदुरा मुसलमानी शासन का प्रधान प्रान्त बन गया।

---

[1] कैमब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया भाग ३, पृ० ४८७

इस प्रकार दिल्ली के बादशाहों ने दक्षिण से केवल असंख्य सम्पत्ति ही नहीं पाई बल्कि वहाँ अपना राज भी कायम किया।

हिन्दू राजाओं का उद्योग

हम पहले कह आये हैं कि मुसलमानों के दक्षिण पर आक्रमण के समय में वहाँ चार राज्य वंशों का शासन था, परन्तु पारस्परिक कलह के कारण इन्होंने यवनों के आरम्भिक आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न नहीं किया। जब मलिक काफ़ूर के भयानक हमले होने लगे तथा मुहम्मद तुगलक ने मदुरा में अपना प्रतिनिधि स्थापित किया, तब होयसल वंश में अन्तिम प्रतापी सम्राट् वीर बल्लाल तृतीय को अपने विस्तृत राज्य की रक्षा करने की विशेष चिन्ता हुई। काकतीय नरेशों के साथ मिलकर उसने उत्तर के समस्त मुहानों को रोकने का सफल प्रयत्न किया। सुनते हैं कि उसने अपने जाति भाइयों की एक महती सभा की तथा मुसलमानों के आक्रमणों से दक्षिण भारत को बचाने के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सबकी सम्मति चाही। सबकी रायसे होयसल राज्य की उत्तरी सीमा पर उन्हें रोकना निश्चित किया गया और उसने उन चारों भाइयों को जो उसके मण्डलेश्वर थे तथा सेनापति भी थे इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के लिए नियुक्त किया। महामण्डलेश्वर हरिहर तथा बुक्क मध्यभाग की रक्षा के लिए नियत किये गए। उनके भाई कम्पण पूरब की ओर मारप्प पश्चिम की ओर मुसलमानों से राज्य की रक्षा के काम पर नियुक्त किये गए। इस प्रकार बीर बल्लाल ने अपनी राजनीतिक युक्ति के बल पर अपने राज्य की रक्षा का ऐसा विस्तृत प्रबन्ध किया कि अब उत्तर से मुसलमानों के आक्रमणों का भय सदा के लिए जाता रहा। उत्तर से इस प्रकार निश्चिन्त होकर बल्लाल ने तामिल प्रान्त से यवनों को खदेड़ने का निश्चय किया। इस कार्य में बल्लाल को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई परन्तु ट्रिचनापाली के पास १३४२ ई० में विजय के अवसर पर ही वह कैदी बना लिया गया तथा मार डाला गया। इस तरह इस प्रतापी सम्राट् ने विधर्मी यवनों को दक्षिण भारत से निकाल बाहर करने के सुन्दर उद्योग में अपने प्रिय प्राण गँवाये तथा वीरगति को प्राप्त किया। इसका पुत्र बल्लाल चतुर्थ पिता के अनन्तर सिंहासन पर बैठा परन्तु तीन या चार वर्षों के ही भीतर पिता की भाँति युद्ध में मारा गया। होयसल वंश का नाश हो गया, इसके राजा वीरगति को पा स्वर्ग सिधारे। अब अनाश्रय होने से मुसलमानों का

भय था, परन्तु बल्लाल तृतीय ने उत्तरी सीमा पर मुसलमानों की बाढ़ को रोकने के लिए जिन मण्डलेश्वरों को नियुक्त किया था वे अपना काम भली भाँति निभाते रहे। उस उथल-पुथल के जमाने में इन्हीं भाइयों ने मिलकर यवनों से दक्षिण भारत की रक्षा के लिए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो इतिहास में विजयनगर साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है।

इस साम्राज्य के अधिपतियों ने होयसल वंश के कार्य को पूरा करके दिखलाया। इनके शासनकाल में समस्त दक्षिण भारत एकता के सुवर्ण सूत्र में बँध गया। इन लोगों ने आर्य संस्कृति, वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। इनकी छत्रछाया में संस्कृत साहित्य की विशेष उन्नति हुई। पिछले सम्राटों के समय में तेलगू साहित्य ने भी बड़ी उन्नति की।

विजयनगर साम्राज्य

ये नरेश केवल कविजनों के आश्रयदाता ही न थे बल्कि स्वयं संस्कृत तथा आन्ध्र भाषा में कमनीय काव्यग्रन्थों की रचना करते थे। इनमें महाराज कृष्णदेवराय सब से अधिक प्रतापी तथा विख्यात राजा हुए। इनके समय में इस साम्राज्य ने वह वैभव, वह भौतिक उन्नति, तथा वह विस्तार पाया जो पहले कभी उसे नसीब न हुआ। इस प्रकार इस साम्राज्य ने हिन्दू संस्कृति, शासन, तथा जातीयता का एक ऊँचा आदर्श उपस्थित किया।

इसी विजयनगर के आरम्भिक काल से सायण का सम्बन्ध है। इसके जिन अधिपतियों के शासन काल में उन्होंने अपना जीवन बिताया, तथा महत्त्वपूर्ण कार्य किया उनका वर्णन आगे किया जायगा।

धार्मिक अवस्था

कर्नाटक प्रान्त धार्मिक उन्नति का केन्द्र था। वैष्णव तथा शैव मतों के साथ ही साथ जैनधर्म का भी विपुल प्रचार इस प्रान्त में बहुत पहले से ही था। श्रीरामानुजाचार्य (१०३७ ई०- ११३७ ई०) के वैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदय का आरम्भ इसी कर्नाटक देश से है। शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर रामानुज ने मैसूर में ही आश्रय लिया था। मैसूर उस समय धार्मिक सहिष्णुता का प्रधान केन्द्र था और उस समय होयसल वंश के राजा राज्य कर रहे थे। उस समय शासन करने वाले राजा का नाम बिट्टिदेव था। ये बड़े प्रतापी नरेश थे और आसपास के समग्र प्रान्तों पर अपनी

विजय वैजयन्ती फैलाकर इन्होंने ही होयसल राज्य का वास्तविक उत्कर्ष साधन किया[1]। इन्हीं को आचार्य रामानुज ने वैष्णवधर्म में दीक्षित किया। इस घटनाका समय १११३ ई० है। तब से बिट्टिदेव का नाम विष्णुवर्धन हुआ और श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदय का प्रारम्भ हुआ। वैष्णव होने पर भी विष्णुवर्धन अन्य धर्मानुयायियों के साथ बड़ी ही सहिष्णुता का[2] बर्ताव करते थे। ११२३ ई० में उन्होंने मैसूर के हसन तहसील के पूर्व एक ग्राम अपनी जैन स्त्री को दिया जिसने इसे दो सौ ब्राह्मणों में बाँट दिया। उसी वर्ष 'सान्तल देवी' ने श्रवण सेल गोव में गन्धवारण बस्ती बनवाया। ११२५ ई० में राजा ने 'श्रीपाल त्रिविध देव' नामक प्रभावशाली जैन आचार्य को भूमिदान दिया जो अपनी विद्वत्ता के कारण 'षड्तर्क षण्मुख' 'वादीय सिंह' और 'तार्किक चक्रवर्ती' की उपाधियों से मण्डित थे। ११२८ ई० में राजा ने चामुण्डी पर्वत पर शैव मन्दिर को दान दिया। 'हलेबिल' नामक स्थान पर जब जैनियों ने जिनालय बनाया, तब राजा ने प्रसाद स्वयं ग्रहण किया और अपने विजय के उपलक्ष में उन्होंने मूर्ति का नाम 'विजय पार्श्वनाथ' रखा।

वीरशैव धर्म की उत्पत्ति का यही समय है। इस प्रकार कर्नाटक में जैन, शैव तथा वैष्णव धर्मों का त्रिवेणीसंगम था, परन्तु राजा तथा मन्त्रियों की धार्मिक सहिष्णुता के कारण इनमें किसी प्रकार का भेदभाव तथा विरोध नहीं था। सब धर्मों के अनुयायी लोग बड़ी शान्ति के साथ अपने धर्म के पालन में दत्तचित्त थे। होयसल नरेश तथा उनके मन्त्रियों का यह महान् उद्देश्य था कि किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप धर्म के विषय में न किया जाय। विपरीत इसके सब मतों की वृद्धि तथा अभ्युदय के निमित्त नानाप्रकार के उपायों का उन्होंने आश्रय लिया। इतिहास इसका साक्षी है*। हरिहर के मन्दिर की स्थापना का रहस्य इसी घटना में छिपा है। होयसल नरेश वीर नरसिंह देव के समय में शैवों तथा वैष्णवों में कुछ विरोध उत्पन्न हो गया था। इसको दूर करने के लए राजा ने एक सौ पन्द्रह कलशों से मण्डित

---

१ द्रष्टव्य कृष्णस्वामी आयंगर—ऐंशन्ट इंडिया पृ० २३४—२४४

२ द्रष्टव्य वही पृ० २३६

* द्रष्टव्य एस कृष्णस्वामी ऐंशन्ट इंडिया पृ० २६०—६१

विशालकाय हरिहर का मन्दिर बनवाया। इसमें हरि तथा हर उभय देवताओं का सम्मिलित विग्रह स्थापित किया गया था। शिलालेखों में लिखा है कि कुछ लोग विष्णु को श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य लोग शिव को मनुष्यों का सब से उपकारी तथा मान्य देवता मानते हैं परन्तु इन दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इसी एकता को सिद्ध रखने के लिए यह हरि-हर का मन्दिर स्थापित किया गया है। जैनधर्म के प्रति इन राजाओं की बड़ी श्रद्धा थी। राजा विष्णुवर्धन के सेनापति गङ्गराज ने अपने मालिक की इच्छा से अनेक जैन मन्दिरों को दान दिया। सायण-पूर्व दक्षिण भारत की यही धार्मिक विशेषता थी—धार्मिक सहिष्णुता तथा धर्मों में पारस्परिक सहयोग था। विजयनगर के सम्राटों ने इस विशेषता को अपने होयसल वंशी-नरेशों से सीखा था परन्तु इसका अत्यधिक उत्कर्ष दिखलाकर इसे उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

श्री वैष्णव धर्म का प्रधान केन्द्र यादवपुर (मेलुकोटे) था। आचार्य रामानुज ने यहीं निवास किया था अतः यहाँ एक बड़ा मठ स्थापित किया तथा इसी स्थान से श्रीवैष्णव धर्म का इस देश में सर्वत्र प्रचार होने लगा। द्वैत सम्प्रदाय की उन्नति भी इसी समय हो रही थी। पाठकों से यह अविदित नहीं है कि द्वैत मत के उद्भावक आनन्द तीर्थ (मध्व या पूर्ण प्रज्ञ) का जन्मस्थान कर्नाटक देश में ही है। उन्होंने प्रस्थान त्रयी पर अपने मत के अनुकूलभाष्य लिखकर द्वैत वेदान्त का खूब प्रचार किया। इनके सैंतीस ग्रन्थों में कतिपय विख्यात ग्रन्थ ये हैं:—(१) ब्रह्मसूत्र भाष्य, (२) अनुव्याख्यान (सूत्रों की अल्पाक्षरा वृत्ति) (३) गीताभाष्य, (४) महाभारत तात्पर्य निर्णय, (५) भागवत तात्पर्य निर्णय, (६) उपनिषद्भाष्य। इनका आविर्भावकाल १२५६ सं०—१३६० सं० (११९९ ई०—१३०३ ई०) माना जाता है। इनके चार शिष्य हुए जो क्रम से इनकी गद्दी पर बैठते रहे।

द्वैत मत का प्रचार

इनके अनन्तर इनके प्रधान शिष्य पद्मनाभतीर्थ गद्दी पर बैठे। ये बड़े सात्विक पुरुष थे। इन्होंने मध्वाचार्य के द्वारा लिखे गए 'अनुव्याख्यान' नामक ग्रन्थ पर न्याय रत्नावली नामक टीका लिखी जो धारवाड़ से प्रकाशित हुई है। इनकी स्तुति में जयतीर्थ ने जो श्लोक लिखे हैं उनसे इनके वैराग्य तथा भगवद्-भक्ति का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे श्लोक ये हैं:—

पद्मनाभ तीर्थ

रमानिवासोचित वासभूमिः
सन्न्यायरत्नावलि जन्मभूमिः।
वैराग्यभाग्यो मम पद्मनाभ ॥ तीर्थामृताब्धिर्भवताद् विभूत्यै ॥
श्रीमध्वसंसेवन लब्ध शुद्ध,—
विद्यासुधाम्भोनिधयोऽमला ये।
कृपालवः पंकजनाभ तीर्थाः
कृपालवः स्यान्मयि नित्यमेषाम् ॥

इनके बाद माधवतीर्थ गद्दी पर बैठे। इनकी ग्रंथ रचना के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनके अनन्तर नरहरि तीर्थ अध्यक्ष हुए। इन्होंने गीता पर भाष्य बनाया था जो उपलब्ध तो नहीं है परन्तु प्रमेय दीपिका में निर्दिष्ट है। इनके अनन्तर अक्षोभ्यतीर्थ गद्दी पर बैठे। ये चारो आचार्य आनन्द तीर्थ के साक्षात् शिष्य थे। अक्षोभ्यतीर्थ विद्यारण्य के समकालीन थे। उनके ग्रंथों का पता नहीं परन्तु उनकी विद्वता तथा तर्ककुशलता को देखकर प्रतीत होता है कि इन्होंने भी अपने मत के ग्रंथ बनाये होंगे। इनकी स्तुति जयतीर्थ ने इन श्लोकों में की है :—

अक्षोभ्यतीर्थ

पदवाक्यप्रमाणज्ञान् प्रतिपादिमदच्छिदः।
श्री मदक्षोभ्यतीर्थाख्यानुपतिष्ठे गुरू ॥
श्री मद्रमारमणसद्गिरिपादसंगि—
व्याख्यानिनाद—दलिताखिलदुष्टदर्पम्।
दुर्वादिवारण विदारण पक्ष दीक्ष—
मक्षोभ्यतीर्थ गुरुराजमहं नमामि ॥

शैवमत

वीर शैव तथा कालामुख शैव सम्प्रदायों के अनेक केन्द्र कर्नाटक देश में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए थे। होयसल वंश के राजाओं के समय में इन मतों का भी विशेष प्रचार हुआ। इस युग के वीर शैवों में पालकुरिकि सोमनाथ बड़े भारी आचार्य थे। इन्होंने वीर प्रतापदेव द्वितीय की सभा में रहकर इन ग्रन्थों की संस्कृत भाषा में रचना की—'सोमनाथ भाष्य' 'रुद्रभाष्य' 'अष्टक पञ्चक' 'नमस्कार

वीरशैव

गद्य' 'अक्षराङ्क गद्य','पञ्चप्रार्थना गद्य', 'वसवोदाहरण', और 'चतुर्वेद तात्पर्य संग्रह'। इन्होंने अपने अनेक सहयोगियों का नाम लिखा है। गोलाकि मठ में पाशुपत सम्प्रदाय की प्रभुता थी। प्रतापरुद्र के समकालीन एक विशिष्ट पाशुपत आचार्य का नाम मिलता है उनका नाम था विश्वेश्व शम्भु। सम्भवतः ये विश्वेश्वर शिव से अभिन्न थे जिन्होंने शैवों में दो भेद कर दिये थे, वीरभद्र और वीरमुष्टि १। कालामुख शैव सम्प्रदाय का दूसरा केन्द्र था 'हुलिमठ' जहाँ १३वीं शताब्दि के अन्त में ज्ञानशक्ति तथा साम्बशक्ति अध्यक्ष थे। श्री शैलक पुष्पगिरि मठ में सोकशिव नामक आचार्य अध्यक्ष थे।

क्रियाशक्ति

यादव नरेशों के शिलालेखों में क्रियाशक्ति नामधारी आचार्यों के नाम अक्सर मिलते हैं। क्रियाशक्ति आचार्यों की प्रभुता इस समय खूब थी। ये भी कालामुख संप्रदाय के ही शैव आचार्य थे। ये भी बड़े प्रभावशाली थे। काशीविलास क्रियाशक्ति के विपुल प्रभाव का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि ये विजयनगर सम्राटों के गुरु थे। ६६४ शक में गोनभूप ने वादिरुद्र के शिष्य क्रियाशक्ति पण्डित को दान दिया तथा ११७४ शक में क्रियाशक्ति के एक शिष्य सोमेश्वर की उपाधि 'लकुलागम समय समुद्धार' बतलाई गई है। इस प्रकार कर्नाटक प्रान्त में वीरशैव तथा लकुलीश सम्प्रदाय के अनुयायियों की इस समय अधिकता थी।

भारतीय दर्शन के इतिहास से परिचित पाठकों के सामने इन दोनों शैव सम्प्रदायों के परस्पर भेद बतलाने की विशेष आवश्यकता नहीं है।*

---

१ विश्वेश्व शिवाचार्यो धीमान् राजगुरुः स्वयम्
एवमाज्ञापयद् वीरः शैवाचार्यशतैर्वृतः ॥
वीजच्छेद-शिरश्छेद-कुक्षिच्छेदादिकर्मभिः
वीरभद्र समाख्याता दशग्रामस्य रक्षकाः
भद्राः स्युरपरे भक्ता विंशतिर्वीरमुष्टयः ॥

*इन मतों के इतिहास तथा सिद्धान्त के लिए द्रष्टव्य लेखक का 'भारतीय दर्शन' पेज २४२-२२१।

पाशुपत तथा वीरशैव का परस्पर भेद

लकुलीश सम्प्रदाय का नामकरण इस मत के उद्भावक के नाम पर है जिनकी मूर्तियाँ विशेष प्रकार की पाई जाती हैं। मस्तक केश से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल रहते हैं और बायें हाथ में लगुड़ या दण्ड। लकुलीश ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका समय विक्रम का द्वितीय शतक है। इसीको पाशुपत सम्प्रदाय कहते हैं जो दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी हैं। इसके बहुत दिनों के पीछे वीरशैवमत की उत्पत्ति हुई। इसके आद्य प्रवर्तक का नाम बसवाचार्य था (१२ शतक) जो कलचुरी नरेश बिज्जल के प्रधान मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीरशैवों का कहना है कि यह मत बड़ा प्राचीन है; जिन पाँच महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न समयों और स्थानों में इस धर्म का प्रचार किया उनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य हैं। इनमें विश्वाराध्य ने अपना सिंहासन काशीपुरी में स्थापित किया। दार्शनिक दृष्टि से ये शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी हैं। इन्हीं मतों की प्रधानता इस युग में हम पाते हैं।

जैनमत

जैनमत की प्रधानता कर्नाटक देश में इस समय भी अक्षुण्ण बनी रही। यह बड़ा पुराना मत है। विक्रमपूर्व तीसरे शतक में यह धर्म उत्तर भारत से चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ कर्नाटक में आया। यह बात ऐतिहासिकों से छिपी नहीं है कि मगध में भीषण अकाल पड़ने के कारण भद्रबाहु की अध्यक्षता में जो जैन संघ दक्षिण में आया उसीने कर्नाटक में इसका प्रथम प्रचार किया। उस समय से लेकर त्रयोदश शतक तक यह जैनधर्म अपनी व्यापकता बनाये हुए विद्यमान रहा। परन्तु अब इसकी अवनति के दिन आगये थे इस पर आक्रमण दो तरफ़ से होने लगा था दक्षिण से श्रीवैष्णवमत का तथा उत्तर से वीरशैव मत का। इन दोनों के भीषण आक्रमण के कारण इस धर्म का अब ह्रास होने लगा था इस मत के विद्वानों ने कन्नड़ साहित्य की विशेष उन्नति की। अब भी इनके अनुयायियों की संख्या काफी अधिक थी। राजाओं की दृष्टि इनके कल्याण की ओर सदा रही। इसके प्रमाण उस समय के प्रचुर शिलालेख हैं। सायण के पूर्वकाल में अर्थात् १४ शतक के प्रथमार्द्ध के शिलालेखों में निर्दिष्ट विशिष्ट जैनाचार्यों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—
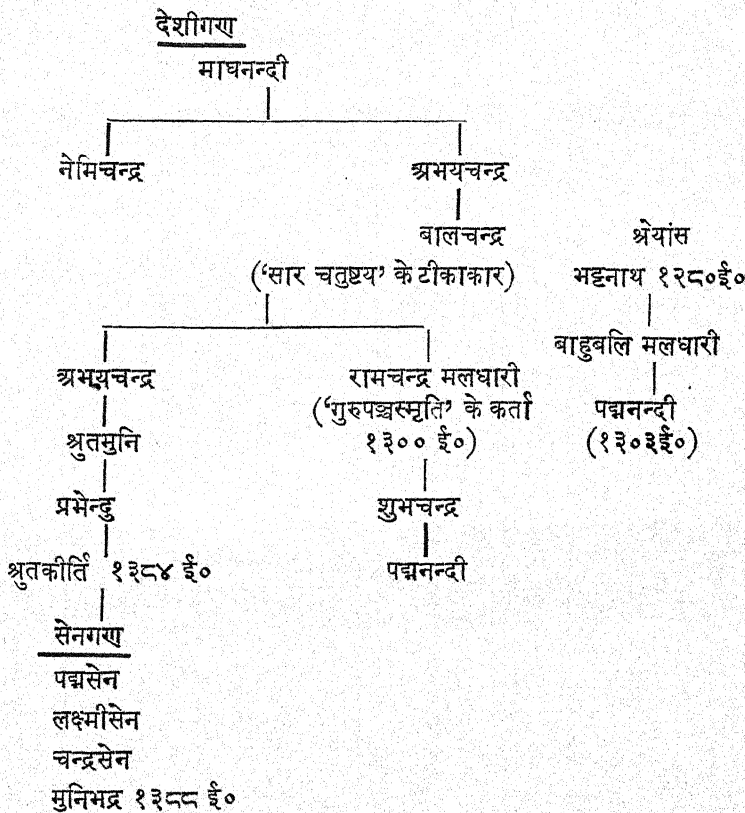
साहित्य

अनुकूल परिस्थिति में साहित्य फूलता फलता है। मुसलमानों के अनेक आक्रमण होने से दक्षिण देश की प्रजा कुछ अशान्ति का अनुभव कर रही थी, परन्तु, फिर भी साहित्य की अभिवृद्धि पर्याप्त मात्रा में बल्लाल नरेशों के शासनकाल में हुई। इस अभिवृद्धि का प्रधान कारण बल्लाल नरपतियों की

---

[1] वीरशैव तथा आचार्य की सूचना के लिए लेखक ने श्रीकान्त शास्त्री के लेख से विशेष लाभ उठाया है। द्रष्टव्य—विजयनगर स्मारक ग्रन्थ पेज २६७—२६६

साहित्य के प्रति स्वाभाविक अभिरुचि तथा योग्य कविजनों को आश्रय देना माना जा सकता है। इन राजाओं ने संस्कृत के ही कवियों को आश्रय देकर उनकी काव्य प्रतिभा के स्फुरित होने का अवसर नहीं प्रदान किया, प्रत्युत कन्नड भाषा के कवियों को भी योग्यतानुरूप प्रोत्साहन देकर कन्नड साहित्य की उन्नति में विशेष सहायता दी। महीशूर का प्रान्त प्राचीन काल का कर्नाटक प्रदेश है अतः कहना न होगा कि वहाँ के निवासियों की मातृभाषा कर्णाटक भाषा या कन्नड भाषा थी और आज भी है। इस ओर ध्यान देने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ये राजा लोग देववाणी की उन्नति के साथ-साथ देशभाषा की वृद्धि के भी अभिलाषी थे। अन्य राजाओं की भाँति ये लोग उससे उदासीन नहीं थे। इसी काल की साहित्यिक अवस्था का दिग्दर्शन कराने का यहाँ हम उद्योग कर रहे हैं।

बल्लाल नरेशों के समय में संस्कृत के अनेक अङ्गों के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया गया मिलता है, इसी समय भरतस्वामी नामक एक सुप्रसिद्ध वेदज्ञ विद्वान् हुए जिन्होंने सामवेद संहिता के ऊपर अपना भाष्य लिखा। यह भाष्य अभी तक अप्रकाशित ही है, परन्तु उसकी हस्तलिखित प्रति आज भी उपलब्ध है। ये होयसल वंशी नरेश रामनाथ के समय में वर्तमान थे और श्रीरङ्गम् में निवास करते समय इन्होंने इस भाष्य की रचना की थी। इसका विशेष विवरण आगे चलकर दिया जायगा।

इसी काल में वीर बल्लाल तृतीय के समय में श्री विद्याचक्रवर्ती नामक प्रसिद्ध साहित्यमर्मज्ञ विद्वान् विद्यमान थे। 'काव्यप्रकाश' के ऊपर इनकी 'सम्प्रदाय प्रकाशिनी' टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। 'अलंकार सर्वस्व' के ऊपर 'सञ्जीवनी व्याख्या' भी विद्वत्तापूर्ण बतलाई जाती है। इसी प्रखर विद्वत्ता के कारण ये 'आलङ्कारिक चक्रवर्ती' तथा 'संस्कृत सार्वभौम' के उपाधि से विभूषित किये गये थे। साहित्य के अतिरिक्त ये वेद और वेदान्त के भी विद्वान् थे। विरूपाक्षपञ्चाशिका विवृत्ति, प्रयोगप्रदीपिका (व्याकरण), रुक्मिणी कल्याण (काव्य) आदि इनके अन्य ग्रन्थ हैं। इनमें अधिकांश अभी तक अप्रकाशित ही हैं, केवल सम्प्रदाय प्रकाशिनी अनन्त शयन ग्रन्थमाला में अभी हाल में ही प्रकाशित हुई है।

विद्यानाथ—इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' है। इस ग्रन्थ में अलङ्कार शास्त्र का सर्वाङ्गीण विवेचन है। इसकी विशेषता यह है कि जितने

उदाहरण दिये गये हैं उनमें ग्रन्थकार के संरक्षक राजा प्रतापरुद्र की ही प्रशंसा है। इतना ही नहीं, तृतीय परिच्छेद में नाटक का वर्णन है। इसके उदाहरण के निमित्त विद्यानाथ ने प्रताप कल्याण नामक एक नवीन नाटक की रचना कर इसमें सम्मिलित कर दिया है। राजा प्रतापरुद्र वारंगल के काकतीय नरेशों में सप्तम राजा थे और इनके शिलालेख १२६८ से लेकर १३१७ ई० तक हैं। इस प्रकार इनका समय १३ शतक का अन्तिम चतुर्थांश तथा १४ शतक का पूर्वार्ध है। इस ग्रन्थ की 'रत्नायण' टीका के कर्ता मल्लिनाथ के पुत्र। कुमारस्वामी (१५ शतक) हैं। श्री के० पी० त्रिवेदी ने कुमारस्वामी की टीका के साथ इस ग्रन्थ को बाम्बे संस्कृत सीरीज में (१६०६ ई०) प्रकाशित किया है।

मल्लिनाथ—कालिदास के काव्यों पर प्रसिद्ध संजीवनी टीका के कर्ता कोलाचल मल्लिनाथ के पितामह का भी नाम मल्लिनाथ ही था। राजा वीररुद्र ने इनकी महती अभ्यर्थना की थी। इन्हीं मल्लिनाथ प्रथम के पुत्र कपर्दी ने श्रौतकल्प पर कारिकावृत्ति लिखी थी। इन बातों का परिचय कपर्दी के ग्रन्थारम्भ के श्लोकों से चलता है—

कोलाचलान्वयाब्धीन्दुः मल्लिनाथो महायशाः।
शतावधानविख्यातो वीररुद्राभिवर्धितः॥
मल्लिनाथात्मजः श्रीमान् कपर्दिः मन्त्रकोविदः।
अखिल श्रौतकल्पस्य कारिका वृत्तिमातनोत्॥

संस्कृत के अतिरिक्त कन्नड़ साहित्य की भी श्रीवृद्धि इस काल में विशेष रूप से हुई। इस समय कर्नाटक देश में जैन धर्म तथा लिङ्गायत वीर शैव धर्म की प्रधानता थी। जैन धर्म तो अपनी अवनति पर था, तथापि इस मत के अनेक आचार्यों ने अपने तीर्थंकरों के आदर्श चरित्र को जनता के सामने रखकर जैनमत के प्रसार के लिए कम प्रयत्न नहीं किया। वीर शैवधर्म की उन्नति का यह युग था। अतः इस धर्म के विद्वानों के द्वारा जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए देशभाषा कन्नड़ का आश्रय लिया जाना नितान्त स्वाभाविक था। दोनों धर्मों के अनुयायियों ने अपने मत के प्रचुर प्रसार के लिए खूब ही प्रयत्न किये और मातृभाषा में ग्रन्थों की रचना इसी प्रयत्न की एक उज्ज्वल दिशा है। अतः बल्लाल युग में देशभाषा ने अपनी एक विशेष उन्नति कर डाली जिसके कारण इस युग का नाम इसके साहित्य के इतिहास

में विशेष आदर के साथ लिया जाता है। स्थान की कमी के कारण यहाँ कतिपय प्रधान ग्रन्थकारों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जाता है*।

नेमिनाथ—कन्नड़भाषा के प्रथम उपन्यास के कर्ता हैं। इनकी 'लीलावती' नामक आख्यायिका सुबन्धु की वासवदत्ता के आधार पर बनी बतलाई जाती है। कदम्बवंशी राजकुमार का स्वप्न में राजकुमारी को देखना तथा अनेक उथल-पुथल के बाद दोनों का परिणय होना इस ग्रन्थ का प्रधान आख्यान है। इनकी भाषा बड़ी मधुर है। इसके अतिरिक्त नेमिनाथ तीर्थंकर की जीवनी भी इन्होंने लिखी थी। जन्न (१२३० ई०) ने अनन्तनाथ की जीवनी लिखी तथा यशोधर चरित्र नामक काव्य लिखा। सुन्दरता के लिए जन्न की शैली की बड़ी प्रशंसा है। शिशुमायण (१२३२ ई०) ने गाने योग्य गीतिकाव्यों की रचना की जिन्हें कन्नड़ भाषा में साङ्गत्य के नाम से पुकारते हैं। इनके काव्यों में अञ्जना-चरित्रे और त्रिपुरदहन की पर्याप्त ख्याति है। आन्दय्य (१२३५ ई०) अपने समय के एक प्रतिभा सम्पन्न कवि माने जाते हैं। इनके सबसे प्रसिद्ध काव्य का नाम कावनगेल्ल या मदन विजय है। इसकी एक बड़ी विशेषता है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का पूर्ण बहिष्कार किया गया है और पूरा काव्य तद्भव तथा देशी शब्दों में ही लिखा गया है। मल्लिकार्जुन (१२४५ ई०) जैन मुनि थे और वीर सोमेश्वर (१२३४—१२५४) के राज्यकाल में रहते थे। इन्होंने सूक्तिसुधार्णव या काव्यसार नामक सुभाषित ग्रन्थ का संकलन किया जिसमें आज अज्ञातप्राय अनेक कविजनों की सूक्तियाँ संरक्षित हैं। अठारह विषयों के अन्तर्गत कविताओं का संग्रह किया गया था जिसमें कुछ उपलब्ध नहीं होते। मल्लिकार्जुन के सुपुत्र केशिराज (१२६० ई०) कन्नड़भाषा के मर्मज्ञ वैयाकरण थे। इन्होंने शब्दमणिदर्पण नामक अपूर्व व्याकरण लिखा जो आज भी इस भाषा का प्रामाणिक व्याकरण माना जाता है। लक्षण छन्दोबद्ध हैं; वृत्ति गद्य में है और प्राचीन ग्रन्थों से हजारों उदाहरण दिये गये हैं। यह एक अनूठा ग्रन्थ माना जाता है। साहब लोग भी केशिराज के भाषा ज्ञान की विपुल प्रशंसा करते हैं।

---

*विशेष विवरण के लिए देखिए
राइस—कनारीज़ लिटरेचर (अं.) पृ० ४२-४४; ६०-६३

यह तो हुई जैनियों की साहित्यसेवा।

अब वीरशैवों के द्वारा की गई कन्नड़ भाषा की सेवा का थोड़ा सा वर्णन यहाँ किया जायगा। वीरशैव (जंगम) धर्म कर्णाटक देश में ही उत्पन्न हुआ, वहीं फूला फला, परन्तु कालान्तर में इसने भारत के अनेक प्रदेशों में प्रवेश किया। इस मत के अनुसार भगवान् शङ्कर की ही आराधना मानव जीवन का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। इसके उद्भावक (या प्रचारक) आचार्य का नाम वसवाचार्य है और इसके पाँच आचार्यों में विश्वाराध्य आचार्य का स्थान काशी माना जाता है और यहीं इन जंगमों के नाम पर एक पूरा मुहल्ला ही जंगमबाड़ी के नाम से पुकारा जाता है। इस मत के लेखकों ने सायण-पूर्वकाल में साहित्य की अच्छी सेवा की थी।

इसी मत के हरीश्वर या हरिहर नामक विद्वान् ने शैवभक्तों के चरित्र को सुन्दर काव्य के रूप में लिखा है। उनका 'गिरिजा-कल्याण' अत्यन्त प्रसिद्ध है। राघवाङ्क ने हरिश्चन्द्र काव्य लिखा। पद्मरस बल्लाल नरेश नरसिंह के मन्त्री थे। ये भी वीरशैव धर्म के अनुयायी थे। इनका दीक्षाबोध गुरुशिष्य के सम्वाद रूप में शैवधर्म के सिद्धान्तों का विवरण है। इसी समय में देवकवि ने कुसुमावली नामक आख्यायिका लिखी और सोमराज ने उद्भटकाव्य का निर्माण किया। इस प्रकार वीर शैवों ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि करने में विशेष प्रयत्न किया था।

साहित्य की यही दशा थी जब विजयनगर के विद्याप्रेमी नरेशों ने अपने मन्त्रिवर माधव और सायण के उपदेशानुसार देववाणी और देशभाषा की उन्नति करने में अपना समय लगाया और सफल प्रयत्न हुए।

———

तृतीय परिच्छेद

सायण और माधव के आश्रयदाता

प्राचीन भारत में संस्कृत के कवियों तथा पण्डितों को किसी विद्या प्रेमी धार्मिक व्यक्ति का आश्रय बहुधा प्राप्त हुआ करता था। अधिकतर यह व्यक्ति वैभव सम्पन्न माननीय भूपाल होता अथवा कोई धनाढ्य शासक होता। इस आश्रयदाता के शीतल आश्रय में कविजनों को वह शान्ति तथा सन्तुष्टि प्राप्त होती जिसमें उनकी प्रतिभा विकसित होती; कमनीय कला रमणीयरूप धारण कर रसिक हृदयों को रिझाती तथा गुणग्राही राजा और उसके सहृदय सभ्यों के प्रोत्साहन से इनकी काव्यकला दिन दूना रात चौगुना अपने जौहरों को दिखलाती हुई समधिक वृद्धि को प्राप्त करती। शास्त्रज्ञ विद्वानों को भी अपनी विद्वत्ता तथा प्रौढि प्रदर्शित करने के लिए किसी आश्रयदाता का सहारा नितान्त आवश्यक है। बिना इसके उन्हें मानवसुलभ उदरदरी के भरण-पोषण की पिशाचिनी चिन्ता रात दिन व्यग्र बनाए रहती है। ऐसी दशा में उस निश्चिन्तता तथा आत्मविस्मृति का नितान्त अभाव रहता है जिसकी सत्ता सब प्रकार के कला कौशल की जननी मानी गई है। अतएव कविजन को जनरंजिनी काव्यकला के जौहर दिखाने के लिए, पण्डितजन को किसी शास्त्र विशेष में अपनी अलौकिक प्रौढि तथा पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए, चित्रकार को प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को रेखा तथा रंग के द्वारा अभिव्यक्त करने वाली कला के चमत्कार को दिखलाने के लिए, गायन विज्ञान में निपुण कलावन्त को अपनी स्वर लहरी के द्वारा मानव हृदय को आकृष्ट करने वाले कला कौशल की चरम अभिव्यक्ति के लिए किसी गुण-ग्राहक भूपाल का आदरणीय आश्रय प्राप्त करना सविशेष आवश्यक है।

हमारे चरितनायक श्री सायणाचार्य को भी ऐसा ही श्लाघनीय आश्रय प्राप्त हुआ था जिसके कारण वे हिन्दू साहित्य, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू सभ्यता को पुनः जागरित कर हमारे पुण्यदेश भारतवर्ष में धर्म की धारा को विशुद्ध रूप में प्रवाहित कर सके। यदि आर्य सभ्यताभिमानी तथा वैदिक

मतानुयायी इन महनीय महीपतियों की सहायता से वे वञ्चित रहते तो क्या यह कभी सम्भव था कि आततायी यवनों के प्रबल आक्रमणों से नितान्त संत्रस्त दक्षिण भारत में वैदिक धर्म के प्रति भारतीय जनता के हृदय में आदर उत्पन्न करने तथा धार्मिक मर्यादा के निबाहने में उत्साह तथा प्रेम पैदा करने में ये इतने सफल होते जितना सफल ये इनकी संरक्षकता तथा आश्रय में हो पाए हैं ? इतिहास के अध्ययन करने वाले इसका एक ही उत्तर देंगे और वह उत्तर निषेधात्मक ही है। ऐसी दशा में हमें इन आश्रयदाताओं का विशेष गुण मानना चाहिए कि इन्होंने सायणाचार्य को अपनी शीतल छत्रछाया में रख कर उन्हें संस्कृत साहित्य को तथा आर्य धर्म के गौरव को विस्तार करने में समधिक मनोयोग देने का अवसर दिया।

सायणाचार्य के आश्रयदाताओं का प्रकृति परिचय देने का इस परिच्छेद में हम यथा साध्य प्रयत्न करेंगे। इतिहास में इनके प्रख्यात होने के कारण इस परिचय प्रदान के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री विद्यमान है जिसका उचित उपयोग यहाँ किया जायगा।

सायण के ग्रन्थों की अन्तरङ्ग परीक्षा से पता चलता है कि सायण को चार नरेशों का आश्रय समय समय पर प्राप्त था। सायण को भगवान् ने सुदीर्घ जीवन दिया था और इस जीवन के भिन्न-भिन्न अंश को सायण ने विभिन्न राजाओं की संरक्षकता में बिताया। इन राजाओं के नाम कम्पण, सङ्गम, बुक्क तथा हरिहर हैं। इन राजाओं का सम्बन्ध दक्षिण भारत के उस साम्राज्य से है जिसे ऐतिहासिक विद्वान, 'विजय नगर' साम्राज्य के नाम से पुकारते हैं। इस साम्राज्य पर चार भिन्न-भिन्न राज वंशों ने शासन किया। सायण के आश्रयदाताओं का सम्बन्ध विजय नगर के प्रथम राजवंश से है जिसे उसके संस्थापकों के पूज्य पितृदेव के नाम पर 'संगम वंश' के नाम से पुकारते हैं। इन राजाओं के विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने के पहले इस वंश की उत्पत्ति का सामान्य ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में विजय नगर साम्राज्य की स्थापना हुई इसका कुछ वर्णन पिछले परिच्छेद में किया गया है। पाठकों को अब तक विदित हो गया होगा कि होयसल वंश के अन्तिम प्रबल वीर बल्लाल तृतीय ने उत्तर से मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के लिए सीमा की रक्षा का भार चार भाइयों के सुपुर्द कर दिया था। ये ही भाई उनके पुत्र के मारे जाने के

बाद भी अपने सच्चे वीर कार्य में जुटे ही रहे तथा इन्हीं ने मिलकर 'विजय नगर' साम्राज्य की स्थापना की। जेठे भाई का नाम हरिहर था। इन्होंने ही अपने अन्य भ्राताओं की सहायता से इस साम्राज्य को कायम किया जिसने मुसलमानों को दक्षिण भारत के प्रदेशों से निकाल भगाया तथा हिन्दू प्रजा को सुखशान्ति से जीवन बिताने का सुयोग दिया। हरिहर से ही विजय नगर के प्रथम राजवंश का आरम्भ होता है, परन्तु यह वंश उनके पिता के नाम से 'संगम वंश' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। सायण के आश्रय दाता इसी वंश के थे। अतः इनके विवरण देने से पहले इनके पिता का कुछ वर्णन देना अनुपयुक्त न होगा।

इस वंश के आदि पुरुष का नाम 'संगम' है। ये चन्द्रवंशी यादव थे। इसका उल्लेख अनेक शिला लेखों में किया गया मिलता है[1]।

संगम

इनके पिता का नाम बुक्क या अनन्त था तथा माता का मायाम्बिका, मागाम्बिका या मेगाम्बिका था। इनके पिता के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चलता। संगम के पूर्व पुरुषों के विषय में शिला लेखों में अनेक ज्ञातव्य बाते भरी पड़ी हैं। इन सब का अध्ययन कर प्रोफेसर हेरास ने यह परिणाम निकाला है कि ये होयसल वंश की ही किसी शाखा के थे। होयसल वंश तथा संगम वंश में अनेक बातों में समानता मिलती है। दोनों चन्द्रवंशी यादव थे। फरिश्ता ने लिखा है कि उत्तर के मुसलमानों के आक्रमण की आशंका से वीर बल्लाल ने अपने जाति वालों की एक महती सभा की और इसी सभा में उन्होंने संगम के पुत्र हरिहर को महामण्डलेश्वर की उपाधि दी तथा आक्रमण को रोकने का प्रधान कार्य उन्हीं के जिम्मे किया। ऐसे उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य का भार अपने ही सम्बन्धियों के ऊपर रखना युक्तियुक्त

---

[1] सोमवंश्या यतःश्लाघ्या यादवा इति विश्रुताः ।७।
तस्मिन् यदुकुलेश्लाघ्ये सोऽभूच्छ्री संगमेश्वरः।
येन पूर्व विधानेन पालिताः सकला प्रजाः ॥८॥
—हरिहर द्वितीय का नल्लूर दानपत्र स. इ. ३, पृ. ४०; पृ. १२१
इसके अतिरिक्त एपिग्राफिका कर्नाटिका के अनेक शिलालेखों में इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है।

प्रतीत होता है। इसलिए होयसल वंश तथा संगम वंश में नितान्त घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात होता है[१]। प्रो० हेरास ने अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देकर यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संगम के पूर्वज केशव दण्डनाथ के वंश के थे। ये होयसलों के दरबार के रत्न थे। ये सेनापति भी थे तथा मन्त्री भी। संगम वंश को भी यही गौरव प्राप्त था। अतः हरिहर के पूर्वज इसी प्रसिद्ध कुल के थे[२]।

संगम का मूल स्थान मैसूर के पश्चिमी भाग में 'कलास' नामक स्थान मालूम पड़ता है। इसी भाग में प्रसिद्ध शंकराचार्य द्वारा स्थापित आदि पीठ श्रृंगेरी मठ हैं। इस तीर्थ स्थान पर हरिहर आदि पांचो भाइयों की बड़ी श्रद्धा थी। विजय नगर की स्थापना के बाद १३४६ ई० हरिहर तथा उनके चारों भाइयों ने विजय के उपलक्ष्य में इस प्रसिद्ध तीर्थस्थान की यात्रा की। इस घटना से यही प्रतीत होता है कि ये मैसूर के इसी पश्चिमी भाग के मूल निवासी थे क्योंकि वहाँ के लोगों के हृदय में अपने प्रान्त के विख्यात तीर्थ पर अतुल श्रद्धा होना स्वाभाविक है।

विजय नगर के संस्थापकों के पिता होने के कारण संगम की शिला लेखों में खूब प्रशंसा की गई मिलती है। एक शिला लेख में मिलता है कि विष्णु भगवान् चन्द्र वंश में जन्म लेने के विचार से संगम के रूप में पैदा हुए[३]। किसी में लिखा है कि जिस प्रकार वसन्त के आगमन से समस्त ऋतुओं की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार संगम ने अपने गुणों से यदुवंश को सुशोभित किया[४]। संगम द्वितीय की बिट्रगुन्ट दान प्रशस्ति में भोगनाथ ने संगम के चरण कमल को राजन्यों के प्रणत मस्तक की मुकुट मणियों से नीराजित होना लिखा है[५]। इन सब वर्णनों से संगम के एक प्रतापी नरेश होने

---

[१] हेरास : बिगिनिङ्गस आफ विजयनगर हिस्ट्री पृ० ७८—९३

[२] वहीं, पृ० ७५-७७

[३] एपि० कर्ना० भाग ११, २३

[४] राइसः मैसूर इन्सक्रिपसन्स पृ० ५५

[५] अस्ति प्रस्तूयमान प्रबल निज भुजा खर्व गर्वानुरोधि
स्वाधीनोदार सार स्थगित रिपुनृपोद्दामसंग्रामशक्तिः।
राजा राजन्य कोटी प्रणति परि-लुठन् मौलिमाणिक्यरोचि-
राजीनिराज्यमान स्फुरदुरुचरणाम्भोरुहः संगमेन्द्रः ॥२॥

की पुष्टि होती है। वे बड़े वीर योद्धा थे। दक्षिण भारत के अनेक राजाओं को उन्होंने हराया था तथा सेरिंगापटम शहर को जीता था। ये होयसल नरेशों के अधीन एक बड़े सामन्त प्रतीत होते हैं। सम्भवतः दक्षिण तथा उत्तर के मुसलमानों से उन्होंने लड़ाइयाँ भी लड़ी थीं[१]। अतः पूर्वोक्त प्रशस्तियों को केवल कोरी कल्पना मानना उचित नहीं है।

संगम के पुत्र

संगम के पुत्रों का उल्लेख भिन्न भिन्न शिला लेखों में भिन्न रीति से मिलता है। किन्हीं शिला लेखों[२] के अनुसार संगम को केवल एक ही पुत्र बुक्क था। यह ठीक है कि संगम के पुत्रों में बुक्क को विशेष महत्त्व प्राप्त है क्योंकि इन्ही के द्वारा इस वंश की परम्परा विजय नगर साम्राज्य पर कायम रही, परन्तु फिर भी उक्त शिलालेखों का पूर्वोक्त कथन अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के रहने पर सत्य नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं संगम के दो पुत्रों—हरिहर तथा बुक्क—के होने का निर्देश मिलता है[३] परन्तु अधिकांश शिलालेखों के आधार पर यही मानना ठीक प्रतीत होता है कि संगम के पाँच पुत्र थे। इन का उल्लेख भी प्रायः समान क्रम से ही सर्वत्र मिलता है जिससे उनके जेठे या छोटे होने की घटना का अनुमान सहज में लगाया जाता है। इन पाँचों पुत्रों के नाम ये हैं[४]—हरिहर, कम्पण, बुक्क, मारप तथा मुद्दप। इन नामों के निर्देश के सर्वत्र समान क्रम होने से मालूम पड़ता है कि हरिहर सब से बड़े तथा मुद्दप सब से छोटे पुत्र थे। इन भाइयों में सायण के आश्रयदाता कम्पण तथा बुक्क थे। अतः उन्हीं का वर्णन न्यायसंगत है, परन्तु फिर भी इस वर्णन

---

[१] हेरासः विजयनगर हिस्ट्री पृ० ७३

[२] एपि० कर्ना० भाग ५, १४८; भाग ८, ६५; भाग ६, ८१; आदि।

[३] एपि० कर्ना०, भाग ११, ३४; जे. बी. बी. आर. ए. एस. भाग १२ पृ० ३७३

[४] तस्मादुद्भवन् पञ्च तनयाः शौर्यशालिनः
कल्पावनिरुहाः पूर्वं कलशाम्बुनिधेरिव। ३
आदौ हरिहरः क्ष्माभृदथ कम्प महीपतिः
ततो बुक्कमहीपालः पश्चान्मारपमुद्दपौ ॥४॥
एपि. इ. भा. ३, पृ० २५

की पूर्ति के विचार से प्रेरित होकर यहाँ अन्य भाइयों का भी सामान्य वर्णन किया जाता है।

हरिहर—इन पाँचों पुत्रों में से हरिहर सब से ज्येष्ठ थे। ये होयसल नरेश वीर बल्लाल के दरबार में अत्यन्त प्रभावशाली अधिकारी थे। कहा गया है कि ये सजातीय होने से विशेष विश्वास पात्र थे। मुसलमान ऐतिहासिक फरिश्ता का कहना[1] है कि 'वारंगल पर मुसलमानों के अधिकार हो जाने पर रुद्रदेव का पुत्र कृष्ण नायक जो वारंगल के समीप रहता था कर्नाटक के अधिपति बिलाल देव (बल्लाल देव) के पास गुप्त रीति से आया और उसने कहा कि अब दक्षिण में पठानों की संख्या खूब बढ़ गई है; इनकी गुप्त मन्त्रणा चल रही है कि इधर के समस्त हिन्दुओं की जड़ खोद डालें। अतः इनके विरुद्ध एकत्रित होकर हमें लोहा लेना नितान्त समुचित होगा। बल्लाल ने यह राय मान ली और जातिवालों की एक महती सभा का आह्वान किया और अपने राज्य की रक्षा के निमित्त अनेक उपाय सोचा। इसका सद्यः फल यह हुआ कि वीर विरूपाक्षपुर की किलेबन्दी हुई और इसमें हरिहर महामण्डलेश्वर बनाए गए[2]। यहीं रहकर उत्तरी सीमा के मध्यभाग की रक्षा उत्तर भारत के पठानों के आक्रमणों से करना हरिहर का प्रधान कार्य था। यह कार्य नितान्त उत्तरदायिता का था। हरिहर के सुपर्द किये जाने से इनकी वीरता तथा उच्च पद का पता स्पष्टतः चलता है। हरिहर की वीरता के विषय में बिट्रगुन्ट लेख में लिखा है[3] कि इन्होंने इन्द्र के समान बलशाली किसी 'सुरत्राण' (सुलतान—मुसलमानी बादशाह) को हराया था। बल्लाल की योजना भी हरिहर की संरक्षकता में विशेष सफल हुई, इसका साक्षी तत्कालीन इतिहास देता है। वीर बल्लाल चतुर्थ की मृत्यु के उपरान्त हरिहर ने अपने अन्य चारों भाइयों के साथ राज्य में सब से प्रतिष्ठित तथा प्रतापी अधिकारी होने के कारण होयसल वंश के स्थान पर १३३६ ई० में विजय नगर के राज्य की स्थापना की। दस वर्ष के अनन्तर १३४६ ई० में विजय के

---

[1] फरिश्ता (बिग्स का अनुवाद) जिल्द १, पृ० ४२७

[2] हेरास : विजयनगर हिस्ट्री, पृ० ६०

[3] तत्र राजा हरिहरो धरणीमशिषच्चिरम्।
सुत्रामसदृशो येन सुरत्राणः पराजितः ॥५॥

उपलक्ष्य में हरिहर ने अपने भाइयों तथा अन्य नज़दीकी सम्बन्धियों के साथ शृंगेरी की यात्रा की और उस मठ के आचार्य विद्यातीर्थ मुनि तथा अन्य ब्राह्मणों को भूमि दान से सम्मानित किया। इस घटना से इनकी धार्मिक प्रवृत्ति का पूरा पता चलता है। ऐतिहासिकों का कहना है विजय नगर की राजधानी तथा साम्राज्य की स्थापना में सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य ने विशेष सहायता पहुँचाई थी। अपने पिता संगम की मृत्यु के अनन्तर हरिहर ने उनके अधीन राज्य पर १३३६ ई० में अपना शासन जमाया तथा विजय नगर का शासन प्रबन्ध १३५४ ई० तक करते रहे। इसी वर्ष इनकी मृत्यु हुई।[1]

कम्पण

कम्पण संगम के दूसरे पुत्र तथा हरिहर के अनुज थे। इनका पदवी युक्त पूरा नाम कम्पणाति ओड़यर शिलालेखों में मिलता है। जिस समय हरिहर उत्तरी सीमा के मध्यभाग के संरक्षक बनाये गए, उसी समय कम्पण पूर्वी भाग के संरक्षक बनाए गए। इसकी पुष्टि इनके उपलब्ध शिलालेखों के प्राप्ति स्थानों से होती है। इनके समस्त शिलालेख नल्लूर जिले के भिन्न भिन्न स्थानों से मिले हैं। इतना ही नहीं, इनके पुत्र संगम द्वितीय का प्रधान शिला लेख नल्लूर जिले के ही बिट्रगुन्ट नामक प्रसिद्ध नगर से मिला है[2]। इन शिलालेखों में उल्लिखित स्थान भी इसी भाग के हैं जिससे स्पष्टतः प्रतीत होता है कि कम्पण का राज्य आजकल नेल्लोर तथा कडुपा जिलों में अवश्य रहा होगा। भौगोलिक स्थिति के विचार करने से भी इनका इधर राज्य करना प्रमाणयुक्त प्रतीत होता है। नल्लोर जिले के अन्तर्गत उदयगिरि का किला था। शत्रुओं से जिसकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक था। यदि पठानों का उत्तर से आक्रमण पूर्वी ओर से होता तो वे उदयगिरि पर ही बिना परिश्रम के रोके जा सकते थे। दूसरी बात यह थी कि वारंगल उदयगिरि के कुछ ही उत्तर में था। उसे मुसलमानों ने जीत लिया। अतः अब उदयगिरि के आक्रमण की बारी थी। इस प्रकार सैनिक महत्व अधिक होने के हेतु उदयगिरि की रक्षा की व्यवस्था करना विशेष चतुरता की घटना थी। अतः

---

१ कैमब्रिज हिष्ट्री, जिल्द ३ पृ० ३७८

२ एपि० इंडिका जि० ३, पृ० ३३।

जिस प्रकार हरिहर उत्तरी सीमा के केन्द्रस्थल की रक्षा करने के लिए रखे गए, उसी प्रकार उनके अनुज कम्पण इस पूर्वी भाग को बचाने के लिए बल्लाल के द्वारा नियत किए गए।

कम्पण प्रभावशाली शासक प्रतीत होते हैं। भोगनाथ कवि का कहना है कि शत्रुओं को सदा कम्पित करने के कारण कम्पण का नाम यथार्थ था[1]। बिट्रगुन्ट शिलालेख में हरिहर के राज्य करने की घटना का उल्लेख कर कम्पण को भी बहुत दिनों तक (चिरम्) पृथ्वी के शासन करने का वृत्तान्त उल्लिखित किया गया है[2]। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि हरिहर तथा कम्पण का शासन-काल साथ ही साथ था; ये दोनों बीर बाँकुड़े एक ही समय होयसल भूपति की आज्ञा से उनके भिन्न भिन्न सीमा भागों की रक्षा करते हुए एक ही समय में राज्य करते थे। और भी, कम्पण के पुत्र संगम ने अपने शिला लेख में अपने पितृव्य हरिहर का नामोल्लेख किया है जिससे यही अनुमान निकलता है कि इन दोनों भाइयों में सविशेष मित्रता का व्यवहार था; एक ही समय में भिन्न भिन्न प्रान्तों पर एक ही उद्देश्य से शासन करने वाले भाइयों में जिस प्रकार मित्रता का व्यवहार होना उचित ही नहीं, प्रत्युत स्वाभाविक भी है, उसी प्रकार हरिहर तथा कम्पण में भी था। सन् १३४६ ई० में शृंगेरी मठ की प्रसिद्ध यात्रा के अवसर पर कम्पण ने अपने भ्राताओं का संग दिया था। इन्हीं के कई शिलालेखों में सायण का नाम उल्लिखित है[3]। सायण ने भी सुभाषित सुधानिधि की पुष्पिका में अपने को पूर्व पश्चिम समुद्राधीश्वर कम्पराज का महाप्रधान लिखा है[4]। कम्पराज (कम्पण) के सन् १३४६—७ में उपलब्ध एक शिलालेख में भी वे 'पूर्व पश्चिम समुद्राधीश्वर' बतलाए गए हैं[5]। इस प्रकार इस प्रबल नरेश ने विजय नगर

---

[1], [2] तस्यानुजश्चिरमशाद् धात्रीं कम्पणभूपतिः।
थाथार्थ्यमभजन्नाम यस्य कम्पपितुर्द्विषाम् ॥६॥

वहीं, पृ० २५।

[3] बट्टरबर्थ : नल्लोर इन्सक्रिपशन्स भाग २, पृ० ७८६, ७६१

[4] पूर्व पश्चिमसमुद्राधीश्वरारिरायविभाल कम्पराज महाप्रधान......
सायणाचार्येण......

[5] बट्टरवर्थः नल्लोर शिलालेख पृ०। ७८६-७६० भाग २

साम्राज्य की स्थापना में योगदान देते हुए शक सं० १२७७ (ई० स० १३५५) में अपनी ऐहिक लीला समाप्त की[१] । इसके ज्येष्ठ भ्राता हरिहर की मृत्यु भी इसके एक साल पहले हो चुकी थी। अतः कम्पण को हरिहर का उत्तराधिकार नहीं प्राप्त हुआ। एक साथ ही शासन प्रबन्ध में सहयोग करने का श्रेय इन्हें देना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित जान पड़ता है।

संगम द्वितीय

सायण के दूसरे आश्रयदाता यही संगम द्वितीय थे। ये कम्पण के पुत्र थे[२] । ये अभी निरे बालक ही थे जब इनके पिता कम्पण का देहान्त हो गया। सायण राज्य के प्रधान मन्त्री थे। अतः बालक संगम के राज्य के प्रबन्ध करने का पूरा भार इन्हीं पर पड़ा। संगम पर श्री सायणाचार्य का विशेष उपकार था, क्योंकि इन्होंने इनके राज्य का केवल प्रबन्ध ही समुचित रीति से नहीं किया, बल्कि अनेक शत्रुओं को पराजित कर उसका विशेषरूप से विस्तार भी किया। इतना ही नहीं, प्रज्ञा सम्पन्न सायण ने इन्हें शासक के उच्च पद के अनुकुल समस्त विद्याओं का भी अध्यापन कराया। इस सुशिक्षा का सुफल भी सद्यः फला। संगम विद्वान् तथा प्रतापी नरेश निकले। सायण के साथ ये युद्ध क्षेत्र में भी उतरते थे और शत्रुओं को परास्त करने में यथायोग्य सहायता भी देते थे। इसका विशेष वर्णन आगे होगा।

इनका महत्त्वपूर्ण शिलालेख बिद्रगुन्ट्र में मिला है जिसके अध्ययन से इनके जीवन की विशेष बातों का पता चलता है। ये बड़े पितृभक्त तथा गुरु भक्त थे। इनके गुरु उस समय के प्रसिद्ध शैवागम पारदर्शी यति श्रीकण्ठनाथ थे[३] । इनकी इच्छा के अनुसार संगम ने पचीस ब्राह्मणों को बिट्रगुन्ट नामक बड़ा गाँव दान में दिया तथा अपने गुरु के नाम पर इसका 'श्रीकण्ठपुर' नाम रख दिया। इस घटना से इनकी विशेष गुरु भक्ति का पता चलता है। यह दान इनके पिता के प्रथम वार्षिक तिथि पर दिया गया था।

---

१ एपि० इंडिका भाग ३ पृ० २३

२ जयन्त इव जम्भारेः प्रद्युम्न इव शार्ङ्गिणः ।
तनयः समभूद्वीर स्तस्य संगमभूधरः ॥७॥
इपि० इ०, ३, पृ० २५

३ वहीं, श्लोक १२; पृ० २६ ।

सायण के सहवास तथा शिक्षण से संगम विद्वानों के नितान्त अनुरागी थे। सायण जैसे विद्वान् इनके मन्त्री थे तथा सायण के अनुज कवि भोगनाथ इनके नर्मसचिव थे[1]। सं० १४१२ (१३५५ ई०) में इन्हें अपने पिता का सिंहासन प्राप्त हुआ। सम्भवतः नौ वर्षों तक सं० १४२१ (१३६४ ई०) तक इन्होंने राज्य किया[2]। भोगनाथ की लिखी प्रशस्ति से पता चलता है कि इनके राज्य में प्रजा विशेष सुखी थी; पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र के अधीश्वर थे; ये शत्रु राजाओं की सेना के विध्वंसक थे। संगम के विशदगुणों का पता उनकी 'प्राक् प्रत्यगब्धिद्वितयपरिवृढ़ः' 'प्रतिभठ धरणीपाल सेनाविभाडः' आदि अनेक विरुदों से चलता है[3]। अतिशयोक्ति की मात्रा के त्याग कर देने पर भी भोगनाथ की यह उक्ति[4] कि जयश्री इन्हीं की बलशाली भुजाओं का आश्रय लेकर इन्हीं के पास सतत निवास करती हुई आसिधार व्रत को धारण करती थी यही प्रमाणित कर रही है कि यह भूपाल एक प्रतापी विजेता था।

बुक्क

महाराज बुक्क सायण के तीसरे आश्रयदाता थे। ये हरिहर के तीसरे भाई थे और उनकी मृत्यु के अनन्तर ये ही विजयनगर के शासक हुए। सन् १३७८ ई० के एक शिला लेख से पता चलता है कि हरिहर प्रथम ने अपने अनुज बुक्कराज को अपना युवराज बनाया था। ऐतिहासिक प्रमाणों की छानबीन करने से जान पड़ता है कि ये हरिहर के सहायक के रूप में साथ साथ राज्य प्रबन्ध करते थे। ये १४१२ वि० (सन् १३५५) के लगभग हरिहर प्रथम की मृत्यु के अनन्तर विजय नगर के सिंहासन पर आसीन हुए। इनका शासन काल नए स्थापित बहमनी राज्य के मशहूर बादशाह मुहम्मद शाह (१३५८—

---

१ इति भोगनाथ सुधिया संगमभूपाल नर्म सचिवेन। वहीं, पद्य ३९

२ हेरासः विजयनगर हिस्ट्री पृ० ६८।

३ श्रीमान् प्राक्प्रत्यगब्धि द्वितय परिवृढः सैष भाषातिलंघि—
क्षुद्रक्ष्माभृजंग प्रतिभटधरणी पाल सेना विभाडः।
माधन्नागाश्वमर्त्याधिपति गजघटा पंचवक्त्रोऽभिपाती
त्युद्घुष्यन्ते मदीयाः स्फुटमिह विरुदाः सन्ततं बन्दिवृन्दैः ॥११॥

४ यद्भुजा श्रयजातकौतुका नापरं जयरमाऽभिवृण्वती
संयुगानि समुपेयुषी चिरादासिधारमनुतिष्ठति व्रतम् ॥६॥ वहीं, पृष्ठ २९।

१३७७) के साथ लड़ने भिड़ने में अधिक बीता। हिन्दुओं और मुसलमानों की यह पहली मुठभेड़ थी। बहमनी राज्य में भी बुक्क तथा वारंगल के कन्हय्या नामक राजा के सोने के सिक्के चलते थे। यह बात मुहम्मद शाह को बहुत खलने लगी और उसने अपनी सलतनत में अपने नाम से सोने के सिक्के ढलाए और चलाए। बुक्क के सोने के सिक्के वज़न में कुछ कम थे। इसलिए बहमनी राज्य के सब सेठ साहूकार उसे ही पसन्द करते थे तथा प्रचलित रहने के पक्षपाती थे। परन्तु मुहम्मद शाह को यह बात कब अच्छी लगती। उसने १३६० ई० में अपने राज्य के समस्त बैंकरों को मरवा डाला और उनकी जगह पर उत्तर भारत से पठानों के साथ आए हुए खत्रियों को यह काम सौंपा गया। इस निर्दय व्यापार से बुक्क राय का हृदय इस बादशाह से फिर गया तथा मुहम्मद शाह भी बुक्क के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर दिल ही दिल में जलता था। अवसर पाकर उसने स्वयं लड़ाई मोल ली। सन् १३६५ ई० के २१ मार्च को वह गुलबर्गा में तख्त पर बैठा। उस समय नृत्य के अवसर पर वह मदिरा से उन्मत्त हो उठा और बुक्क के कोष से द्रव्य लेने के लिए उसने एक 'चेक' काट दिया। स्वभावतः बुक्कराय इससे झुँझला उठे और उन्होंने इसे नहीं माना। परिणाम में बड़ी विषम लड़ाई हुई[1]। विशेष जनसंहार के बाद कहीं दोनों दलों में शान्ति स्थापित हुई[1]।

इस प्रकार मुसलमानों के हमले से अपने राज्य को बचाने का श्लाघनीय कार्य बुक्क ने किया। घर में निश्चिन्त होकर इन्होंने अपने मन्त्रियों की सहायता से हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य करने में अपना समय लगाया। उनके तीन विद्वान् मन्त्रियों के कार्य इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। माधवाचार्य इनके गुरु भी थे, साथ ही साथ विजयनगर में मन्त्री के पद पर भी अधिष्ठित थे। माधव मन्त्री के ऊपर पश्चिमी विभाग, वनवासी प्रान्त, पर शासन करने का भार था। इन्होंने यहाँ से तुरुष्कों को निकाल कर भग्न मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया तथा प्रजावर्ग में सुख शान्ति की स्थापना की। तीसरे मन्त्री सायणाचार्य थे जिन्होंने बुक्क की अनुमति से चारों वेद तथा तत्सम्बन्धी ब्राह्मण ग्रन्थों के विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य बनाए। इस प्रकार इस राजा ने वैदिक धर्म की स्थापना में विशेष अनुराग दिखलाया तथा

---

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री भाग ३, पृष्ठ ३८०-३८४

प्रजाओं में शान्ति का विस्तार कर तदनुकूल वातावरण बनाया[1]। हरिहर द्वितीय के नल्लूर लेख में इन्हें साक्षात् शिव का अवतार कहा गया है और इनकी कीर्ति भुवन-व्यापिनी बतलाई गई है[2]। इनकी प्रधान महिषी का नाम गौरी था जिसके पुत्र हरिहर द्वितीय इनके बाद राज्य के उत्तराधिकारी हुए। इनके अन्य छ बेटे थे जिनमें कम्प या कुमार कम्प विशेष विख्यात हैं, क्योंकि इन्होंने अपने पराक्रमी बाहुओं के सहारे मदुरा से मुसलमानों को निकाल भगाया। जिस विजय का वर्णन इनकी विदुषी पत्नी गंगा देवी ने अपने ऐतिहासिक महाकाव्य 'मधुरा विजयम्' में बड़ी रोचकता के साथ किया है। अतः हरिहर तथा कम्प के पूज्य पितृदेव बुक्कराय या बुक्कण के विषय में माधवाचार्य की यह प्रशस्ति[3] औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है—

युक्तिं मानवतीं विदन् स्थिरधृतिर्भेदे विशेषार्थभाक्
आरोहः क्रमकृत्प्रयुक्ति निपुणः श्लाऽयातिदेशोन्नतिः।
नित्यस्फूर्त्यधिकारवान् गतसदाबाधः स्वतन्त्रेश्वरो
जागर्ति श्रुतिमत्प्रसङ्गचरितः श्रीबुक्कणक्ष्मापतिः ॥२॥

—जैमिनीयन्यायमाला।

---

१ धर्मेण रक्षति क्षोणीं वीर श्री बुक्कभूपतौ।
निरातंका भयात्तस्मिन नित्यभोगोत्सवाः प्रजाः।
एप्रि० इं० पृ० १२१, भाग ३

२ तस्य श्री संगमेन्द्रस्य पुत्रोऽभूत् पुण्यवैभवात्
वीरश्रीसंगलादर्शो वीरश्रीबुक्कभूपतिः ॥१०॥
सत्तार्चिरलसं लोका अभुजंगविभूषणम्
वदन्त्यनुग्रनामानं शिवं यं बुक्कभूपतिम् ॥११॥
यत्कीर्तिलक्ष्म्याः क्रीडन्त्या ब्रह्माण्डं रत्नमण्डपम्
मुक्ताच्छत्रं शशाङ्कस्तु दीपः शुक्रदिवाकरौ ॥१२॥
—नल्लूरलेख

३ इसके विद्वत्तापूर्ण अर्थ के लिए देखिए इस पद्य की विस्तर नाम्नी टीका।

सायणाचार्य के चतुर्थ तथा अन्तिम आश्रयदाता हरिहर द्वितीय थे जिनके आश्रय में सायण ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों को बिताया। ये

हरिहर द्वितीय

हरिहर महाराज बुक्क के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गौरी था। इनके नल्लूर दानपत्र[1] तथा देवराय द्वितीय के सत्य-मंगलम् लेख में[2] इनकी माता का यही नाम दिया मिलता है। इनकी रानी का नाम मलाम्बिका शिलालेखों में उपलब्ध होता है[3]। इनके अनेक पुत्रों के नाम तथा काम का पता शिलालेखों से चलता है। हरिहर द्वितीय का सब से पहला शिलालेख १३०१ श० सं० अर्थात् १३७६ ई० का है[4] तथा सबसे अन्तिम लेख नल्लूरदानपत्र शकसंवत् १३२१ अर्थात् १३६६ ई० का है।[5] इससे प्रतीत होता है कि हरिहर द्वितीय ने बीस वर्षों तक अवश्य राज्य किया।

हरिहर द्वितीय एक प्रतापी सम्राट् हुए। इन्हीं के समय में विजयनगर साम्राज्य की विशेष प्रतिष्ठा हुई तथा दक्षिण में इसका राज्यविस्तार भी हुआ। नल्लूर दानपत्र में दी गई विस्तृत विरुदावली में से 'कर्णाटक लक्ष्मी कर्णावतंस' तथा 'शार्दूल मदभंजन' विरुदों से प्रतीत होता है कि हरिहर ने कर्णाटक प्रान्त पर राज्य किया तथा चोल नरेशों को भी परास्त किया, क्योंकि शार्दूल चोलराजाओं का राज्य चिह्न था। उत्तर के मुसलमानी बादशाह के साथ भी इनकी मुठभेड़ हुई, परन्तु मुसलमान ऐतिहासिकों के पक्षपातपूर्ण वर्णनों से सत्य घटना का पता लगाना कठिन हो गया है। खफ़ी खाँ, फ़रिश्ता

---

१ गौरी सहचरात्तस्मात् प्रादुरासीन्महेश्वरात्।
शक्त्या प्रतीतस्कन्दांशो राजा हरिहरेश्वरः ॥१४

२ अहीनभोग संसक्ति रसौ राजशिखामणिः।
गोप्ता हरिहरं गौर्यां कुमारमुदपादयत् ॥७॥

३ तस्य मलाम्बिका जाने रुदभूदुन्नतो गुणैः।
—सत्यमंगलम् पत्र, श्लो० ८
एपि० इ०, भा० ३, पृ० ३७

४ देखिए बाम्बे रायल एशिएटिक सोसाइटी की पत्रिका, भाग १२ पृ० ३४०

५ नल्लूर दानपत्र का १८ वाँ श्लोक, देखिए,
एपि० इ० भाग ३, पृ० ११६ तथा १२२

आदि ऐतिहासिकों के ही आधार पर कैमब्रिज हिस्ट्री के तीसरे भाग में प्रोफेसर हेग ने हरिहर द्वितीय तथा फिरोज़ तुगलक के युद्ध का जो वर्णन किया है[1], वह एकांगी मालूम पड़ रहा है। खफ़ी खाँ ने लिखा है कि १३९८ ई० में हरिहर द्वितीय ने मुसलमानों पर चढ़ाई की जिससे फिरोज तुगलक क्रुद्ध होकर स्वयं लड़ने के लिए आया। परन्तु कृष्णा नदी में वर्षाकाल में इतनी बाढ़ आई कि बाएँ ओर से उस तरफ़ आना अत्यन्त कठिन हो गया। इस पर काज़ी शिराजुद्दीन ने जो नाचने गाने में लड़कपन से ही चतुर था फिरोज़ को एक चाल सुझाई। उसने पच्चीस नाचने वालों की एक पार्टी बनाई और रात के समय नदी को पार कर विजयनगर के सैनिकों में जा मिला। गान विद्या में प्रवीणता से उसकी इतनी ख्याति हुई कि वह राजदरबार में बुलाया गया जहाँ पर उसने तलवार तथा खंजर को नाच दिखलाने के लिए माँगा। मिलने पर उसने हाथ की बड़ी सफाई दिखलाई और आँख बचाकर हरिहर के पुत्र को तलवार से मार डाला। इस पर विजय नगर की सेना में भगदड़ मच गई और फिरोज को इस पार आनेका अवसर मिल गया। उसने फिर बड़ा ऊधम मचाया अन्त में सन्धि हुई। इस वर्णन में खूब नमक मिर्च मिली हुई मालूम पड़ती है।

हरिहर द्वितीय बड़ा दानी राजा था। वह 'षोडश महादानों' को सदा दिया करता था। इसका वर्णन शिला लेखों में मिलता है[2]। सायणाचार्य ने अथर्व संहिताभाष्य के आरम्भ में इसका उल्लेख किया है[3] जिससे उसके विशेष दानी होने की घटना की पर्याप्त पुष्टि होती है। हरिहर द्वितीय अपने पितृदेव

---

१ पृ० ३८८-३९०

२ तुला पुरुष दानादि महादानानि षोडश
कृतवान् प्रतिराजन्य वज्रपातात्मवैभवः।
—नल्लूर दानपत्र

यः षोडश महादान महामंटपकर्मणा
भवनं कृतवान् सर्वं भुवनं कीर्तियोषितः ॥८॥
सत्यमंगल दानपत्र

३ विजयी हरिहरभूपः समुद्वहन् सकलभूभारम्
षोडश महान्ति दानान्यनिशं सर्वस्य तृप्तयेकुर्वन्

की तरह धार्मिक सहिष्णुता के भार से प्रेरित होकर शैव वैष्णव तथा जैन धर्म वालों के साथ समान वर्ताव करता था। उसने कालहस्ती तथा शोण शैल स्थानों में जो भगवान् शिव के पवित्र तीर्थ माने जाते हैं दान दिया। वेंकटाद्रि तथा श्रीरंगम जैसे प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थों को भी उसने दान दिया था। जैन धर्मानुयायियों पर भी इनकी सामान्य कृपा न थी। हरिहर के सेनापति इरुग या इरुगप-दण्ड नायक जैन धर्म के मानने वाले थे। इन्होंने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। यह साहित्यिक प्रवृत्ति का भी था, क्योंकि इसने नानर्थ-रत्नमाला नामक कोष ग्रन्थ लिखा है। इसे ही हरिहर ने विजय नगर राजधानी में जैन मन्दिर बनाने की आज्ञा दी थी। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों से इनकी धार्मिक सहिष्णुता का खूब पता चलता है।

यह विद्वानों का भी विशेष आश्रयदाता था। सायण ने इन्हीं के दरबार में मन्त्री रहकर अथर्व तथा शतपथ के महत्त्वपूर्ण भाष्यों की रचना की। अतः शिला लेखों में इनका 'वेदभाष्य प्रकाशकः' विरुद नितान्त उपयुक्त है। इस भाष्य की रचना तथा अपने धार्मिक कार्यों के कारण हरिहर ने वैदिक धर्म की स्थापना का उन्नत कार्य किया। इस प्रमाण में 'वैदिक मार्ग स्थापना चार्यः' इनका विरुद ही नहीं है, प्रत्युत सायण ने भी इन्हें 'वैदिक मार्ग प्रवर्त्तक' लिखा है। यह नरेश चारों वर्णों, आश्रमों तथा आचारों का प्रति पालन करने वाला था[1]। इसके राज्य में दक्षिण भारत में सर्वत्र सुख तथा शान्ति का राज्य जगमगा रहा था; प्रजा धार्मिक थी तथा विनीत थी; साहित्य तथा कला की उन्नति थी। अतः सायण के स्वर में स्वर मिला कर हम भी यही कहेंगे कि इस धार्मिक नरपति ने इसी कलियुग को अपने सुचरितों से कृतयुग बनाया—

विजिता राति व्रातो वीर श्री हरिहर क्षमाधीशः
धर्म ब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतयुगं कुरुते।

---

१ सर्ववर्णाश्रमाचारप्रतिपालन तत्परे
तस्मिन् चतुः समुद्रान्ता भूमिः कामदुघाऽभवत् ॥१९॥
—नल्लूर् दानपत्र

चतुर्थ परिच्छेद

समसामयिक भारत

(१)

पाठकों को अब तक अविदित न होगा कि सायण और माधव का आविर्भाव काल विक्रम की चतुर्दश शताब्दी का उत्तरार्ध तथा पञ्चदश शताब्दी का प्रथमार्ध था। भारत के इतिहास में यह युग अपना विशेष महत्त्व रखता है। राजनीति, धर्म तथा साहित्य—इन तीनों की दृष्टि से यह काल माननीय है। विजय नगर साम्राज्य की स्थापना का यही युग है। गत परिच्छेद में हमने सप्रमाण सिद्ध किया है कि उत्तर के आततायी मुसलमान आक्रमणों से उत्पीड़ित हिन्दू जनता की रक्षा के लिए ही इस साम्राज्य की नींव डाली गई। यह साम्राज्य भारती संस्कृति तथा सभ्यता की मर्यादा रक्षा के लिए ही प्रादुर्भूत हुआ था। हिन्दू धर्म की नहीं, प्रत्युत धर्ममात्र की प्रतिष्ठा, वर्णाश्रम की विशुद्धता रखने के लिए ही हरिहर और उनके चारों भाइयों ने मिलकर इस अपूर्व राज्य को स्थापित किया। संगम वंशी नरेशों का विवेचन तृतीय परिच्छेद में विस्तार के साथ किया गया है। उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यह तो हुई दक्षिण की बात। उत्तरीय भारत में मुसलमान लोगों ने अपना राज्य दृढ़मूल कर लिया था। उत्तर में कोई भी राजा ऐसा न था जो इन मुसलमानी राजाओं के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक रखता। यह अभूतपूर्व कार्य निष्पन्न करने से ही विजयनगर को राजनैतिक महत्त्व प्राप्त है।

२. धार्मिक अवस्था

सायण कालीन ऐतिहासिक अवस्था के निरीक्षण के बाद उस समय के धार्मिक दशा का संक्षिप्त परिचय नितान्त आवश्यक है। इस परिचय के पाने से हम अच्छी तरह समझ सकेंगे कि किस धार्मिक वातावरण में सायण तथा माधव ने अपना कार्य किया तथा वह दशा उनके कार्य के लिए अनुकूल थी या प्रतिकूल।

सायणाचार्य के समय में तीन धर्मों का प्रचुर प्रचार था—शैव, वैष्णव तथा जैन। इसमें शैव मत विजय नगर के तत्कालीन राजवंश का अपना मत था। विक्रमकी सोलहवीं शताब्दी तक विजय नगर के राजा

शैवधर्म

शैव मतानुयायी ही थे। राजा विरूपाक्ष श्री वैष्णव-आचार्यों की शिक्षा से प्रभावित होकर सबसे पहले वैष्णव बना[1], परन्तु उसके पहले के समस्त विजय नगर नरेश शैवमत के ही मानने वाले थे। शिव ही इनके कुलदेवता थे जिनकी पूजा 'विरूपाक्ष' के नामसे विजय नगर में होती थी। 'विरूपाक्ष' का विशाल काय मन्दिर भी इन राजाओं की शैवमत के प्रति अगाध श्रद्धा तथा अनुपम भक्ति का उज्ज्वल उदाहरण है। इनके शिला लेखों के अन्त में 'श्री विरूपाक्ष' उत्कीर्ण मिलता है[2]। बिट्रगुण्ट शिला लेख के अन्तिम् श्लोक से पता चलता है कि राजा संगम द्वितीय ने अपने हाथ से ही उस दान पत्र के अन्त में 'श्री विरूपाक्ष' ऐसा पञ्चाक्षरात्मक मंत्र लिखा[3]। इससे यह तो प्रतीत होता ही है कि इन विजयनगराधीशों को अपने कुलदेव श्री विरूपाक्ष (शिव) पर असीम निष्ठा थी, साथ ही साथ यह भी पता चलता है कि विरूपाक्ष के ये भक्त अपने हस्ताक्षर करने के स्थान में अपने आराध्य देव का ही नाम लेखों में लिखते थे। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि समस्त लेख के अन्य लिपि में होने पर भी 'श्री विरूपाक्ष' कन्नड लिपि में उत्कीर्ण किया गया है[4] जो कर्णाट देशीय इन राजाओं की अपनी लिपि जान पड़ती है। संगमवंशीय नरेशों की आस्था शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित शृंगेरी मठ तथा उसके आचार्यों के प्रति विशेष रूप से थी। विजयनगर राज्य की स्थापना तथा शत्रुविजय के उपलक्ष में वि० सं० १४०३ (१३४६ ई०) में हरिहर ने अपने समस्त प्रिय

---

१ 'प्रपन्नामृतम्' नामक वैष्णव ग्रन्थ देखिए।

२ उदाहरण के लिए देवराय द्वितीय का सत्यमंगलं ताम्रपत्र तथा हरिहर द्वितीय का नल्लूर दानपत्र देखिए, एपि० आफिका इंडिका भाग ३, पृ० ३६ तथा पृ० १२४।

३ श्रीकंठपुरसंपूर्त्यै श्रीविरूपाक्षसंज्ञया।
लिखितः संगमन्द्रेण पत्रे पञ्चाक्षरो मनुः ॥४२॥

४ एपि० इं० पृ० भा० ३, ४१ तथा पृ० १२४, टि० १२।

बन्धुवर्गों के साथ श्रृंगेरी की तीर्थ यात्रा की और वहाँ के तत्कालीन अध्यक्ष श्री विद्यातीर्थ स्वामी तथा अन्य ब्राह्मणों को विपुल भूमि सम्पत्ति दान में दिया। श्रृंगेरी के प्रति यह गाढ़ आस्था हरिहर के बाद भी उनके भ्राताओं तथा भ्रातुष्पुत्रों में निरन्तर विद्यमान दिखलाई पड़ती है। महाराज बुक्क ने एक बार नहीं कई बार, अकेले तथा माधवाचार्य के संग में भी, इस पवित्र तीर्थ स्थान की यात्रा श्रद्धा के साथ की और वहाँ के अधिकारियों को भूदान दिया[1]। बुक्क के सुपुत्र हरिहर द्वितीय ने श्रृंगेरी के प्रति अपनी भक्ति को और भी बढ़ाया। श्रृंगेरी में उपलब्ध इनके अनेक लेख, ताम्रपत्र इसके नितान्त परिचायक हैं। इनमें तत्कालीन मठाधीश विद्यारण्य स्वामी की प्रचुर प्रशंसा की गई है तथा राजा ने उनके प्रति अपने उपकार भार का प्रदर्शन किया है[2]। वि० सं० १४४३ (१३४६ ई०) में विद्यारण्य की मृत्यु होने पर हरिहर ने अपने पूज्य गुरु तथा आचार्य की नारायण प्राप्ति के स्मरणार्थ कई गाँवों का दान दिया जिनका नाम गुरु के नाम पर ही 'विद्यारण्यपुर' रख दिया[3]। इन ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार परे विजय-नगराधीशों का श्रृंगेरी मठ तथा उसके आचार्यों के प्रति गाढ़ अनुराग तथा आदर दीख पड़ता है। पाठकों को विदित ही होगा कि स्वामी शंकराचार्य जी ने अपने मत तथा सिद्धान्त के निरन्तर प्रचार तथा विकाश की उन्नत भावना से प्रेरित होकर मैसूर के पश्चिमी भाग में सबसे पहले इसी श्रृंगेरी मठ की स्थापना की थी। इसके प्रति पक्षपात रखने से इन राजाओं का शैवमत का प्रेमी होना स्वतः सिद्ध होता है।

इतना ही नहीं, संगम वंशीय नरेशों के गुरु भी शैवाचार्य ही थे। उस समय के सुप्रसिद्ध शैवाचार्य काशीविलास क्रियाशक्ति इस वंश के कुलगुरु थे। ये एक पहुँचे हुए शैव थे। ये 'शिवाद्वैत' के प्रतिपादक तथा आगम में निष्णात सिद्ध महात्मा थे। इनके ही पट्ट शिष्य माधव मंत्री थे जो अपने गुरु के उपदेश से शुद्धशिवान्ताय पद्धति से भगवान् त्र्यम्बक की उपासना किया करते थे और जिनकी कृपा से इन्होंने 'सूतसंहिता' की 'तात्पर्यदीपिका'

---

१ १६१६ पृ० ५६ और ५७ मै० (सूर) आ० (र्किओलाजिकल) रि० (पोर्ट)

२ वही पृ० ५६ तथा ५८

३ वही पृ० ५३

नामक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखी[1]। इनके अतिरिक्त उस समय के एक दूसरे शैव यति श्री कण्ठनाथ थे जो सायण तथा उनके भाइयों के ही गुरु न थे, बल्कि संगम द्वितीय के भी पूजनीय आचार्य देव थे[2]। बिट्रगुण्ट लेख में राजा को आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा देने के लिए ये भूतल पर अवतार लेने वाले साक्षात् शिव के ही रूप माने गए हैं। जब ये शैवागम के तत्त्वों की व्याख्या करते थे, तो जान पड़ता था कि किसी प्राचीन 'नाथों' की कीर्ति पुनः नई हो गई हो[3]। इन वर्णनों से ये सायण-काल के एक अलौकिक सिद्ध तथा विख्यात शैवागमपारगामी यति जान पड़ते हैं। काशीविलास क्रियाशक्ति तथा श्रीकण्ठनाथ के राजगुरु होने से सायणकालीन राजाओं का शैवमतानुयायी होना स्वतः सिद्ध होता है। डाक्टर कृष्णस्वामी[4] का कहना है कि उस समय शैवमत के अनेक केन्द्र थे। वीरशैव सम्प्रदाय के अनुयायी अनेक स्थान थे। मैसूर में मलनद ज़िला तथा श्री शैलम् शैवसम्प्रदाय के जीवन्त केन्द्र थे जहाँ इसका प्रचार प्रजावर्गों में विशेष रूप से था। इस प्रकार शैवमत का उस समय प्रचुर प्रचार था।

वैष्णव धर्म

शैवमत की भाँति वैष्णवमत को इस समय राजाश्रय प्राप्त न था। शैव चोल महाराज कुलोतुंग के भय से मैसूर में भाग आने वाले श्री रामानुजाचार्य के आश्रयदाता बिट्टिदेव (या राजा विष्णुवर्धन) का होयसल वंश अब नष्ट हो चुका था। होयसल वंश के स्थानापन्न विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक संगम वंश शैवमत का ही अनुयायी था; राजा की संरक्षकता न पाने से श्री वैष्णवों की

---

१ इनके विशेष वर्णन के लिए अगले परिच्छेद को देखिए।

२ इनका विशेष वर्णन आगे किया गया है।

३ इत्थं सर्वगुणोपरञ्जककलामीदृग्विधामेयुष-
स्तस्य क्षोणिपतेरपारयशसस्तत्त्वोपदेशक्रियाम्।
कर्तुं कामपि वासनामुपनयन कारुण्यवारांनिधिः
श्रीमान् सन्निधिमादधत् पशुपतिः श्रीकण्ठनाथात्मना ॥१२॥
माहेश्वराणां तदीनां मान्ये यस्मिन् प्रदर्शके।
प्राचामदीर्शं नाथानां प्रायेण नवता भुवि ॥१३॥

४ कृष्णस्वामीः कन्ट्रिब्यूशन्स आफ साउथ इंडिया पृ० २१२

दशा सायणकाल में अच्छी नहीं कही जा सकती। माध्व वैष्णवों की दशा भी इससे अच्छी न थी। मध्वस्वामी ने उडुपि में अपने मठ की प्रतिष्ठा कर डाली थी जिसकी गद्दी को द्वैत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक मध्वाचार्य सुशोभित करते तथा अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा तथा वृद्धि के लिए अद्वैत वादियों के साथ कभी कभी शास्त्रार्थ करने के लिए भी आ जुटते। इस समय में श्री वैष्णवों तथा माध्वों में बड़े अच्छे अच्छे विद्वान् आचार्य विद्यमान थे। रामानुज सम्प्रदाय में लोकाचार्य तथा वेदान्त देशिक जैसे विद्वान् इसी काल में थे। मध्वसम्प्रदाय में भी अक्षोभ्यमुनि तथा जयतीर्थ जैसे कट्टर द्वैतवादी आचार्यों का जन्म इसी समय में हुआ। इन आचार्यों ने अपने अपने मतों की प्रतिष्ठा तथा वृद्धि में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया, यह बात श्री वैष्णव तथा माध्व सम्प्रदाय के इतिहास को जानने वाले पण्डितों से छिपी नहीं है। इस प्रकार बाह्य सहायता न मिलने पर भी इन सम्प्रदायों की आन्तरिक दशा प्रायः अच्छी थी। परन्तु यवनों के उपद्रवों के कारण श्री वैष्णवों की शक्ति छिन्न भिन्न हो गई। वैष्णव आचार्यों को मन्दिरों में भगवद्विग्रहों को (भगवान् की मूर्ति को) अपने साथ लेकर भागना पड़ा। विशाल मन्दिर शून्य हो गए। सम्प्रदाय के लोग निराश्रय होकर बड़ी विपन्नावस्था में पड़ गए। इन यवन आक्रमणों के कारण श्री वैष्णवों की दुरवस्था का वर्णन अनन्ताचार्य कृत प्रपन्नामृत, नम्बूरि केशवाचार्य कृत आचार्य सूक्ति मुक्तावली, जैमिनि भारत महाराज साड़ुव नरसिंह रचित रामाभ्युदय आदि ग्रन्थों में प्रधानतया उपलब्ध होता है।

श्रीरंगम् पर यवन शासन

श्री रंगनाथ जी का विशेष उत्सव चल रहा था। श्रीरंगम् क्षेत्र में नदी के किनारे भगवान् की प्रतिमा रथ पर स्नान के लिए नदी किनारे लाई गई थी। वहीं तीर पर आनन्द से उत्सव मनाया जा रहा था। लोकाचार्य तथा वेदान्त देशिक—श्रीवैष्णवों के पूज्य ये दोनों आचार्य इस अवसर पर विराजमान थे। किसी को तनिक भी आशंका न थी कि श्री रंगनाथ जी के उत्सव में कहीं से विघ्न-बाधा आ रही है। इसी समय एक गुप्तचर ने लोकाचार्य को यह खबर दी कि मुसलमानों ने चोलदेश पर आक्रमण कर दिया है। आप लोग इसके लिए सचिन्त हो जाइये, परन्तु लोकाचार्य ने इसे तनिक भी कान न किया। थोड़े दिनों के बाद वह गुप्तचर पुनः लौटा और यह बुरी खबर लाया कि ये विधर्मी यवन श्रीरंगम् के समीप आ रहे हैं तथा खण्डनपुर में

इन्होंने अपना अड्डा जमाया है। इस समाचार को सुनकर वैष्णवों में श्रीरंगम् के भावी आक्रमण की आशंका से भगदड़ मच गई। सब भाग खड़े हुए। लोकाचार्य श्रीरंगनाथ जी की प्रतिमाओं को लेकर उनकी रक्षा के लिए भाग खड़े हुए। वेदान्तदेशिक ने भी श्रीरंगम् में रहना हितकर न समझ कर यादव गिरि (आजकल मैसूर में 'मेलकोट' नामक स्थान) में शरण लिया। वे अपने साथ श्रीवैष्णवों की निधिभूत, कूरम कुलोद्भव सुदर्शनभट्ट विरचित श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका नामक टीका को तथा ग्रन्थकार के दोनों पुत्रों को अपने साथ लेते गए। यह घटना सम्भवतः वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) की है जब श्रीरंगम् के ऊपर दूसरी बार आक्रमण हुआ। वेदान्तदेशिक को माधवाचार्य अच्छी तरह जानते थे। मैसूर में यह प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य केवल भिक्षा माँग कर अपनी गृहस्थी चलाते थे। जब माधव ने यह दुःखद बात सुनी तो उन्हें अपने महराज हरिहर के दरबार में बुला भेजा, परन्तु उन्नत चेता वेदान्तदेशिक ने यही उत्तर दिया कि राजाधिराज श्री रंगनाथ की सेवा को एक बार स्वीकृत कर लेने पर दूसरे किसी राजा की सेवा करना उन्हें अभीष्ट नहीं है[1]। लोकाचार्य तथा वेदान्तदेशिक अपने प्रिय श्रीरंग को छोड़-कर बाहर रहते थे; यवनों का श्रीरंगम् के ऊपर शासन होने लगा तथा मदुरा में उन्होंने अपना राज्य कायम किया, परन्तु वैष्णवों के आर्त कण्ठों से निकले हुए करुणक्रन्दन को भगवान् ने सुन लिया और श्रीरंगम् तथा मदुरा से यवनों के निकाल बाहर करने के लिए कुमार कम्पण तथा उनके सेनापति गोपणार्य को घटनास्थल पर भेजा।

श्रीरंगम् का उद्धार

कुमार कम्पण महाराज बुक्क के द्वितीय पुत्र थे। ये बड़े उत्साही, प्रतापी तथा वीर योद्धा थे। मदुरा से यवनों के निष्कासन का श्रेय इस राज कुमार को है। इनकी पत्नी गंगादेवी ने अपने पति के इस विजय के वृत्तान्त के ऊपर एक महाकाव्य लिखा है जो मधुरा-विजयम् या कम्परायचरितम् के नाम से प्रसिद्ध है[2]। इससे पता चलता है कि अपने पूज्य पितृदेव की आज्ञा से कम्पण ने काञ्ची-मण्डल पर आक्रमण किया, वहाँ के राजा चम्पराय (शम्भुवराय) को परास्त

---

१ कृष्णस्वामीः कन्ट्रिब्यूशन्स आफ साउथ इंडिया पृ० २११

२ मेरा लेख श्री शारदा पूर्ण संख्या २७ (सं० १६८० वैशाख)।

किया और काञ्ची पर अपना शासन जमाया। इसके अनन्तर वे दक्षिण की ओर मुड़े और मदुरा के सुल्तान से लोहा लेना शुरू किया। वि० सं० १४३४ (१३७७ ईस्वी) में कम्पण ने सुलतान अलाउद्दीन सिकन्दर शाह को मारडाला और इस प्रकार दक्षिण का यवनों से उद्धार किया[1]। कुमार कम्पण के सेनापति तथा जिञ्जी के गवर्नर गोपणार्य ने भी इस कार्य में अपने मालिक की बड़ी सहायता पहुँचाई। प्रपन्नामृत में लिखा है कि गोपणार्य को श्री रंगनाथ जी ने स्वप्न दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि गोपण ने सुअवसर पर यवनों की सैनिक शक्ति से परिचित होकर श्रीरंगम् पर हमला किया और यवनों को इस पवित्र पीठ से निकाल बाहर कर इसका उद्धार किया। इस कार्य में विजयनगर के द्वितीय वंश के स्थापक साडुव नरसिंह के पूर्वज साडुव मंगी ने भी बड़ी सहायता पहुँचाई। वे परम वैष्णव थे और उन्होंने श्रीरंगम् के मन्दिर को एक सहस्र शालिग्राम तथा आठ गाँवों का दान दिया[2]। अब वेदान्त देशिक यदुगिरि से लौट आए। बड़े उत्सव के साथ लोकाचार्य ने श्रीरंगनाथ जी की मूर्तिओं की पुनः स्थापना की। गोपणार्य के इस धार्मिक कार्य से वैष्णवमण्डली गद्‌गद हो उठी। उसने अपने तीर्थस्थान को निरापद पाकर गोपण की शतमुख से प्रशंसा किया। वेदान्तदेशिक का यह पद्य जो रंगनाथ जी के मन्दिर के द्वार पर उत्कीर्ण बतलाया जाता है गोपणार्य के इस महत्त्वपूर्ण कार्य की स्मृति आज भी बनाए हुए है:—

आनीयानील श्रृंगद्युतिरचित जगद्रञ्जनादञ्जनाद्रेः
चञ्च्यामाराध्य कंचित् समयमथ निहत्योद्धनुष्कान् तुलुष्कान्
लक्ष्मीक्ष्माभ्यानुनाभ्यां सह निज नगरे स्थापयन् रंगनाम्—
सम्यञ्चर्यां सपर्यां पुनरकृत यशः प्रापणो गोपणार्यः॥

वेदान्तदेशिक

कुमारकम्पण ने, यवनों ने जिन शिव तथा विष्णु मन्दिरों में ताला जड़ दिया था उन्हें खुलवाया। उनका पुनः संस्कार करवाया और बहुत से गाँव तथा जवाहिरात दान में दिया।[3] श्रीरंगनाथ जी के मन्दिर में भी वैष्णव आचार्यों की देख रेख में फिर से पूजा

---

[1] हेरासः दि आरविडु डाइनेस्टी आफ विजयनगर पृ० १०५-१०६।

[2] इसकी पुष्टि नरसिंह के रामाभ्युदय से होती है।

[3] हेरासः आरविडु डाइनेस्टी पृ० १०४

की प्रतिष्ठा की गई। अब वेदान्तदेशिक ने शान्ति के साथ यहीं अपना जीवन बिताया। ये अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक तथा कवि थे। इन्होंने १२० ग्रन्थों की रचना की है जिसका एक चतुर्थांश तामिल भाषा में है। कुछ ग्रन्थ प्राकृत में भी हैं। शेष ग्रन्थ संस्कृत में हैं। 'हंस सन्देश' तथा 'यादवाभ्युदय' इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। रामानुजाचार्य के अनन्तर इन्होंने श्री सम्प्रदाय की खूब प्रतिष्ठा फैलाई। आजकल श्री सम्प्रदाय का जो रूप हम पाते हैं वह वेदान्तदेशिक के ही उद्योग का फल है तथा इस पर इनकी ही छाप है।

इस प्रकार श्री वैष्णवों ने श्रीरंगम् पर तथा माध्वों ने उडुपी[1] पर अपने सम्प्रदाय का अड्डा जमाया और यहीं से अपने विद्वान् आचार्यों की अध्यक्षता में अपने मत का सर्वत्र प्रचुर प्रचार किया। इस कार्य में श्री वैष्णवों तथा जैनियों में झगड़ा तक होने की बारी आई इस संघर्ष का वर्णन जैनधर्म की दशा के वर्णन के अनन्तर किया जायगा।

जैन धर्म

जैनियों की परम्परा के अनुसार विक्रमपूर्व चौथी शताब्दी में चन्द्रगुप्त मौर्य तथा आचार्य भद्रबाहु के साथ जैनधर्म दक्षिण में आया। तब से इस धर्म के आचार्य इसे सर्वत्र फैलाने में अथक परिश्रम करते रहे। उनके अदम्य उत्साह के कारण इस धर्म ने दक्षिण के प्रान्तों में घर कर लिया। कर्णाटक देश में तो इसका फैलाव खूब हुआ। कन्नड साहित्य के विकाश तथा अभिवृद्धि में तद्देशीय जैनियों का विशेष हाथ था[2]। इस साहित्य के आदिम चार शताब्दियों के (८-१२) ग्रन्थ जैनधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार जैन मत के तामिल भाषा में भी बहुत से ग्रन्थ हैं, परन्तु इसका अड्डा कर्नाटक देश में ही बना रहा। इसी देश में विजयनगर का राज्य स्थापित किया गया। अतः इसमें भी जैनधर्म के अनुयायियों का सद्भाव था, यह अनुमान से सिद्ध है।

---

१ इस उडुपि मठ को विजयनगर के शासनों से सहायता तथा प्रोत्साहन मिलने के भी प्रमाण मिलते हैं। देखिए कृष्णस्वामीः साउथ इंडिया पृ० ३१२

२ इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए

राइसः हिस्ट्री आफ कनारिज लिटरेचर पृ० १७-४०

शिला लेखों के प्रमाण पर यह नितान्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि विजयनगर के दरबार में जैनियों की भी खूब कदर होती थी। उन्हें भी राज्य के ऊँचे ऊँचे पद दिए जाते थे; तथा उनकी योग्यता में केवल भिन्न धर्माव-लम्वी होने से किसी प्रकार की अनास्था नहीं दिखलाई जाती थी। बुक्क प्रथम के मन्त्रियों में एक श्रद्धालु जैन भी मन्त्री थे जिनका नाम बैचप्प था। मैसूर के श्रवण बेलगोड नाम प्रसिद्ध जैन तीर्थ के एक शिला लेख में इनका उल्लेख भी मिलता है[1]। बुक्क के बाद भी बैचप्प तथा उनके पुत्र इरुगप्प हरिहर द्वितीय के मन्त्री थे; इसका पता विजयनगर में मिले १३८५ ई० के एक शिला लेख से होता है[2]। ये इरुगप्प शासनकुशल मंत्री होने के अतिरिक्त एक वीर सेनानायक तथा साहित्यिक प्रवृत्ति के भी पुरुष थे। इन्हें 'नानार्थरत्न माला' नामक कोष की रचना का श्रेय दिया जाता है[3]। काञ्चीवरम् के समीप एक जैन मन्दिर के शिला लेख से जान पड़ता है कि इन्होंने अनेक मन्दिरों को दान भी दिया था[4]। इतना ही नहीं, इन्होंने खास विजय-नगर में ही एक विशाल काय जैन मन्दिर का निर्माण किया था जिसे जनसाधारण गाणिगिति मन्दिर (तेलिन का मन्दिर) के नाम से पुकारते हैं[5]। श्रवणबेलगोड में १४२२ ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि इरुगप्प के दो पुत्र, जिनका नाम बैचप्प तथा इरुगप्प था, राजा वीरविजय के समय में विजयनगर के सेनापति थे[6]।

विजयनगर के राजाओं के शिलालेखों से पता चलता है कि उन्होंने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण किया तथा दान दिया। दक्षिणी कनारा जिले के मुड़विद्री स्थान के गुरुगल बस्ती में बुक्कराय द्वितीय का एक दान पत्र

---

१ इरुगप्प का श्रवण बेलगोड़ शिलालेख, एपि० इं० भाग ८ पृ० १७

२ हुल्श: साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स जि० १, पृ० १६१

३ वही, पृ० १५६

४ एपि० इं० जि० ७ पृ० ११५-११६

५ हुल्श: साउथ इंडियन इन्सक्रिप्शन्स, भा० १ पृ० १५६
कृष्णस्वामी: साउथ इंडिया पृ० २१२

६ एपि० इं० जि० ८ पृ० २२

मिला है जिससे पता चलता है कि बसरूर नामक स्थान में आने वाले प्रत्येक भारवाही बैल से एक कुलग धान लिया जाता था। यद्यपि इस राजा को "ब्राह्मणों के लिये कल्पवृक्ष" कहा गया है फिर भी इसने अर्हत् पार्श्वनाथ के लिये एक मन्दिर बनवाया था[1]। जैनधर्म के प्रति यह सहिष्णुता केवल राजाओं तक ही सीमित नहीं थी प्रत्युत धर्म के विषय में कट्टर रानियों तक में पायी जाती थी। श्रवण बेलगोड़ में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि भीमराय प्रथम की स्त्री भीमदेवी प्रसिद्ध जैन गुरु पण्डिताचार्य अभिनव चारुकीर्ति की शिष्या थी तथा उसने बेलगोड़ की मंगई बस्ती में शान्तिनाथ की मूर्ति की स्थापना की[2]। विजयनगर के सुप्रसिद्ध राजा कृष्णदेव राय ने चिंगलपेट जिले में त्रैलोक्यनाथ जिनालय की स्थापना की थी, इसका पता एक शिलालेख से लगता है[3]। इसके अतिरिक्त विजयगनर के सामन्त राजाओं में भी जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता दिखलायी जिसका पता उनके शिलालेखों तथा दान पत्रों से चलता है। इन सब प्रमाणों से यह प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि विजयनगर के दरबार में ही जैनियों का प्रवेश न था, बल्कि शैव होने पर भी तत्कालीन विजयनगर नरेशों का झुकाव इस धर्म की ओर था।

विजयनगराधीशों की उदार धर्मनीति

इसका प्रधान कारण इन नरेशों की उदार धार्मिक नीति थी। ये किसी भी धर्मानुयायी पर अनुचित दबाव डालना नहीं चाहते थे। ये न तो शैव-मतानुयायी चोल भूपाल की भाँति थे जिनके डर के मारे वैष्णवधर्म के प्रचारक आचार्य रामानुज को स्वदेश से भागकर मैसूर में शरण लेनी पड़ी थी और न उस वैष्णव-मतावलम्बी बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) के ही समान थे जिसके विषय में शैवों को कोल्हू में पेर कर मार डालने की किम्बदन्ती प्रचलित है। इनकी धार्मिक नीति अतिशय उदार थी। ये स्वयं भगवान् विरूपाक्ष के मानने वाले थे, फिर भी उडुपि के वैष्णवमठ को सहायता देते थे तथा यवनों के भय से भागे हुए आचार्य वेदान्तदेशिक को अपने दरबार में रहने के लिए माधवाचार्य के द्वारा बुलवाया था। इसी प्रकार जैनमत के

---

१ रङ्गाचार्य—इन्सक्रिप्शन्स आफ दि मद्रास प्रेसिडेन्सी।

२ इपि० कर्ना० भाग २

३ मद्रास एपिग्रेफिकल रिपोर्ट १९०१, पृ० १८८

मानने वाले इरुगप्प को न केवल अपना मन्त्री तथा सेनापति ही बनाया था, बल्कि अपनी खास राजधानी में भी जैनमन्दिर बनवाने की भी आज्ञा दी थी। हरिहर द्वितीय ने जिस प्रकार कालहस्ती तथा श्रीशैलम् के शैव-मन्दिरों को तथा श्रीरंगम् के वैष्णव मन्दिरों को दान दिया था, उसी प्रकार जैन-मन्दिरों को भी अपनी उदारता तथा दानशीलता से परिचित बनाया था[1]। इनके पिता वीर बुक्कराय प्रथम ने तो शासन-पत्र निकाल कर जैनियों तथा श्रीवैष्णवों को आपस में समान व्यवहार करने का उपदेश दिया तथा उनके बढ़ते हुए पारस्परिक द्वेष को सदा के लिए शान्त कर दिया[2]। इस जैन-श्रीवैष्णव-संघर्ष का मनोरम वर्णन संक्षेप में यहाँ दिया जायगा।

मैसूर प्रान्त में जैन धर्म का प्रचार पहले से था। अब वैष्णव प्रचारकों के उत्साह से वैष्णव धर्म यहाँ भी फैलने लगा। फलतः इन दोनों में समय-समय पर विरोध उत्पन्न होना स्वाभाविकथा। ऐसा ही

जैन-श्रीवैष्णव संघर्ष एक प्रबल विरोध बुक्कराय के समय उत्पन्न हुआ और राजा के पास निर्णय के लिए आया। बुक्कराय का न्यायसंगत तथा पक्षपात रहित निर्णय शिला पर आज भी उत्कीर्ण है। जैनियों ने राजा से प्रतिवाद किया कि भक्तों (श्रीवैष्णवों) ने उनके साथ अन्याय का बर्ताव किया है। तिसपर बुक्क ने जैनियों के हाथ को अपने हाथ में लेकर वैष्णवों के ४८ प्रतिनिधियों के (जो तिरुपति, काञ्ची तथा श्रीरंगम् जैसे दूर तीर्थों से आए थे) हाथ में रखा और उस समय जैन तथा श्रीवैष्णव की समानता मानते हुए यह घोषणा-पत्र निकाला[3]—

"यह जैन दर्शन, पहले की तरह आज भी, पाँचो संगीत वाद्यों तथा कलस का अधिकारी है। यदि भक्तों के द्वारा जैन-दर्शन की वृद्धि में हानि पहुँचे, तो इसे वैष्णवों को अपने ही दर्शन की वृद्धि में हानि समझनी चाहिए। श्रीवैष्णव लोग राज्य की सब बस्तियों में इसी आशय का शासन-

---

[1] एपि० इं० जिल्द ३, पृ० ११६ टिप्पणी ११

[2] एपि. कर्ना. जिल्द २, पृ० ३४४

[3] एपि कर्ना० जिल्द ६, १८

" " २, नं० ३४४

हेरसः आरविडु डाइनेस्टी पृ० ५३८-५३९

पत्र स्थापित करें। जब तक सूरज तथा चन्द्रमा हैं, तब तक वैष्णव धर्म जैन-दर्शन की रक्षा करता रहेगा। वैष्णव और जैन एक ही हैं; उन्हें भिन्न नहीं समझना चाहिए। तिरुपति के अधिकारी राज्य के जैनियों की अनुमति से प्रत्येक घर से साल में एक आना वसूल करें तथा इस दान से श्रवण बेलगोड़ में देवता के रक्षक रूप में वैष्णव लोग बीस नौकर रखें और शेषधन जीर्ण जिनालयों की मरम्मत में खर्च करें।......इसे कोई नष्ट न करे। यदि कोई यति या गाँव का चौधरी इस दान को बन्द कर देगा तो उसे गंगाजी के किनारे एक कपिला गाय तथा ब्राह्मण की हत्या करने का पातक लगेगा।"

इस घोषणा के पत्र में जैनियों के साथ कुछ अधिक सहानुभूति दिखलायी गयी है, तथापि इसका महत्त्व कम नहीं है। इसके पढ़ने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि बुक्क जैनियों तथा श्रीवैष्णवों को एक दृष्टि से देखते थे तथा उनकी नज़र में दोनों एक समान थे। विजयनगर के नरेशों की इस उदार नीति ने समस्त प्रजा को उनका विश्वासपात्र बनाया, देश को शान्तिमय बनाया तथा धार्मिक जाग्रति उत्पन्न करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित किया।

इसी अनुकूल धार्मिक स्थिति में रह कर श्री सायणाचार्य ने अपना कार्य सुसम्पन्न किया।

साहित्य की उन्नति

सायण और माधव का युग संस्कृत साहित्य के इतिहास में नवीन स्फूर्ति तथा विपुल जाग्रति का युग था। इन दोनों भ्राताओं ने अपनी शक्तिभर संस्कृत के भिन्न भिन्न अंगों पर ग्रन्थों की रचना तो की ही, साथ ही साथ उत्साह तथा अवसर प्रदान कर इन्होंने अन्य लेखकों से ग्रन्थ लिखवाया था। इतना ही नहीं, उस युग में एक बड़ी धारा बहती थी। अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों के साथ साथ श्रीवैष्णव सम्प्रदाय तथा द्वैत सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी नवीन तथा महत्त्वपूर्ण कृतियों के द्वारा इस युग की साहित्यिक सम्पत्ति को खूब बढ़ाया। विद्यारण्ययुग के साहित्य का पूरा वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए प्रधान ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का विवेचन यहाँ दिया जायगा।

अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त के इतिहास में विद्यारण्ययुग अपना विशेष महत्त्व रखता है। सायण तथा माधव के गुरु थे स्वामी विद्यातीर्थ तथा स्वामी भारती तीर्थ। इन्होंने अपने ग्रन्थों तथा सुव्यवस्था से शृंगेरी मठ की ख्याति खूब ही बढ़ाई। विद्यातीर्थ का उस समय के धार्मिक जगत् में बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान है। इनका व्यक्तित्व बड़ा ही विशाल तथा प्रभाव बड़ा ही व्यापक था। कहा जाता है कि इनका जन्म 'विल्वारण्य' में हुआ था। उनके पिता का नाम 'सारङ्गपाणि' था तथा इनका पूर्वाश्रम का नाम 'सर्वज्ञ विष्णु' तथा संन्यासाश्रम का नाम 'विद्यानाथ', 'विद्याशङ्कर' और 'विद्येश' था। इनका आविर्भावकाल १३५२ सं० (१२९६ ई०) से लेकर १४४० वि० (१३८४ ई०) माना जाता है। इन्होंने तैंतीस वर्षों तक काशी में निवास किया, हिमालय में पन्द्रह वर्षों तक तपस्या की और इस तपस्याचरण के अनन्तर वे शृंगेरी पीठ के अध्यक्ष बनाये गये। यहाँ इन्होंने इस पीठ के प्राचीन गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया और बढ़ते हुए लिङ्गायत प्रभाव को दूर किया। इसीलिए वे 'अभिनव शङ्कर' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उनका लिखा हुआ 'रुद्रप्रश्न-भाष्य' माननीय ग्रन्थ है।

रुद्रप्रश्नभाष्य—श्री वाणीविलास प्रेस (श्रीरंगम्, १९१३ ई०) से प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार ने एक विस्तृत तथा उपादेय उपोद्घात लिखा है जिसके अनुशीलन से उनकी विद्वता का परिचय मिलता है। उनका कथन है कि रुद्रोपनिषत् का जप, कर्म, उपासना तथा ज्ञान काण्ड की दृष्टि से सर्वोत्तम है। इस विषय में श्रुति तथा स्मृति दोनों की एकवाक्यता है। जाबाल उपनिषद् के प्रामाण्य पर शतरुद्रिय मन्त्रों की तीनों काण्ड में सर्वश्रेष्ठता बड़े ही अच्छे ढंग से सिद्ध की गई है। उपासनाकाण्ड का वर्णन करते समय दिखलाया गया है कि अविमुक्त की उपासना दो प्रकार की होती है—आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक। भ्रू तथा घ्राणरी सन्धि में ईश्वर की उपासना करना 'आध्यात्मिक' है और अविमुक्त क्षेत्र काशी में परमेश्वर का दर्शन करना 'आधिभौतिक' है। इन दोनों का फल है तारक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति, परन्तु रुद्रमन्त्रों के जप से यह फल अनायास से ही प्राप्त हो जाता है। अतः इन मन्त्रों की उपासनादृष्टि से उत्तमत्ता स्पष्ट है (पृ० १५)। रुद्रमन्त्रों की व्याख्या बड़ी प्रौढ़ तथा प्रामाणिक है। भट्ट भास्कर का मत बड़े आदर

के साथ कई स्थानों पर दिया गया है (पृ० १८)। इस भाष्य के अध्ययन से विद्यातीर्थ का उत्कृष्ट पाण्डित्य पद पद पर परिस्फुरित हो रहा है।

शंकरानन्द—इस युग के एक विद्वान् संन्यासी थे। इनके गुरु का नाम 'आनन्दात्मा' था। विद्यारण्य स्वामी ने 'विवरण प्रमेय संग्रह' के आरंभ में इनकी स्तुति इन शब्दों में की है—

स्वमात्रयानन्दयदत्र जन्तून्
सर्वात्मभावेन तथा परत्र।
यच्छङ्करानन्दपदं हृदब्जे
विभ्राजते तद् यतयो विशन्ति।

इन्होंने प्रस्थान त्रयी पर टीका लिखकर वेदान्त के सिद्धान्तों का विपुल प्रचार किया। इनकी टीकाओं का नाम 'दीपिका' है जिनमें अनेक आनन्दाश्रम तथा चौखंभा से प्रकाशित हुई हैं:—

(१) गीता दीपिका—इसे शंकरानन्दी के नाम से भी पुकारते हैं। यह टीका बड़ी प्रौढ़ मानी जाती है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से गीता के अर्थ की बड़ी ही प्रामाणिक विवेचना है।

(२) ब्रह्मसूत्र दीपिका—ब्रह्मसूत्रों की सरल अल्पाक्षर टीका।

(३) उपनिषद् दीपिका—इन्होंने उपनिषदों पर भी 'दीपिका' लिखी थी। इनकी 'दीपिका' इन सोलह उपनिषदों पर आनन्दश्रम से प्रकाशित हो चुकी है—ईश, केन, प्रश्न, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, जाबाल, कैवल्य, कौषीतकि गर्भोपनिषद्, आरुणेयउप०, अमृतविन्दु, अमृतनाद, अथर्वशिर उप०, ब्रह्मोपनिषद्, परमहंस।

(४) आत्मपुराण—यह भी वेदान्त का मान्य ग्रन्थ है।

भारतीतीर्थ ने तो विद्यातीर्थ के अनन्तर शृंगेरी पीठ के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था। विद्यातीर्थ स्वामी के शिष्य थे तथा उनके साथ ही शृंगेरी में रहते थे। गुरु की ब्रह्मप्राप्ति के अनन्तर ये ही गद्दी पर बैठे, परन्तु गुरु विद्यातीर्थ के प्रति विजयनगर के राजाओं के भी हृदय में इतनी श्रद्धा थी कि सम्भवतः भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य की प्रेरणा से उन लोगों ने शृंगेरी के 'विद्याशङ्कर मन्दिर' का निर्माण किया जिसमें 'विद्याशङ्कर लिङ्ग' की प्रतिष्ठा कर स्वामी विद्यातीर्थ के प्रति अपनी अगाध भक्ति, तथा अनुपम श्रद्धा का प्रदर्शन किया। कला की दृष्टि से इस मन्दिर की बड़ी ख्याति है। दक्षिण-

भारत के मन्दिरों में यह 'विद्याशङ्कर' मन्दिर अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसमें 'होयसल' कला तथा प्राचीन द्राविड़ पद्धति का अनुपम संयोग है[1]। भारतीतीर्थ की महत्त्व पूर्ण रचनायें हैं—'वैयासिक न्यायमाला' जिसमें ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों का सुन्दर विवेचन है तथा 'दृग्दृश्य विवेक' जिसमें द्रष्टा तथा दृश्य के स्वरूप का निरूपण बड़े ही पाण्डित्य के साथ किया गया है। ग्रन्थ तो छोटा है, परन्तु पाण्डित्य की दृष्टि में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

इसके बाद ही विद्यारण्य ने ग्रन्थों की रचना कर धर्म तथा दर्शन का विपुल उत्कर्ष सम्पन्न किया। पराशरमाधव, कालमाधव तथा जैमिनीय न्याय-माला विस्तर की रचना विद्यारण्य ने अपने पूर्वाश्रम में की जब वे माधवाचार्य के नाम से विख्यात थे। संन्यास लेने पर उन्होंने अद्वैत वेदान्त की जो सेवा की है वह विशेष गौरव रखती है। पञ्चदशी, जीवन्मुक्तिविवेक, विवरण प्रमेय-संग्रह, बृहदारण्यक भाष्य वार्तिकसार—विद्यारण्य की पाण्डित्य मण्डित रचनायें हैं जो अद्वैत वेदान्त की व्याख्या तथा प्रसार करने में खूब ही सहायक सिद्ध हुईं। विद्यारण्य के अनेक शिष्यों ने भिन्न भिन्न विभागों में ग्रन्थ-निर्माण किया। उन्हीं के उत्साह तथा प्रेरणा से सायणाचार्य ने वेदों के भाष्य बनाये जिनके अनुशीलन से हम वेदों के अर्थ समझने में समर्थ हुए हैं। यदि ये ग्रन्थ न होते, तो हम नहीं कह सकते कि वेदों के गूढ़ अर्थ का परिचय हमें क्यों कर प्राप्त होता। इस प्रकार इस काल में अद्वैत वेदान्त ने विशेष उन्नति की तथा वेद भाष्यों की रचना से वैदिक कर्मकाण्ड की खूब ही प्रतिष्ठा हुई।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय

तत्कालीन धार्मिक स्थिति की परीक्षा करते समय हमने देखा है कि रामानुजमतानुयायी श्रीवैष्णवों के लिए वह युग भीषण संघर्ष तथा भयानक उत्पीड़न का युग था। यवनों ने इनके प्रधान केन्द्र श्रीरंगम् पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था जिसके कारण वेंकटनाथ की संरक्षकता में श्रीवैष्णव लोग भगवान् की मूर्ति की रक्षा करते हुए शुभ दिनों की प्रतीक्षा कर रहे थे। अन्ततः वह दिन आया। गोपणाचार्य ने यवनों को श्रीरंगम् से निकाल बाहर किया, तब रामानुजमत उन्नति के मार्ग पर चलने लगा। इस समय

---

१ विजयनगर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० २८१-२८४

विशाल साहित्य की सृष्टि की गई। प्रधान आचार्य थे वेंकटनाथ और लोकाचार्य। इन दोनों आचार्यों में आलवार सन्तों की तामिल भाषा में लिखे गये ग्रन्थों (तामिल वेद) को लेकर संघर्ष उत्पन्न हुआ और इस मत में दो सम्प्रदाय हो गये (१) 'टेङ्कलै' जो तामिल वेद की प्रामाणिकता मानता था और कर्मानुष्ठान के प्रति उदासीन था। इसके नेता थे पिल्लै लोकाचार्य। (२) दूसरा मत था 'वडकलै' जो वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का पक्षपाती था। इसके प्रधान पोषक थे वेदान्त देशिक। दोनों मत का पृथक्करण इस युग के रामानुज मत की विशेषता है[१]।

'वडकलै' सम्प्रदाय के नेता वेंकटनाथ वेदान्त देशिक या वेदान्ताचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पूरे शतायु (१२६९-१२७२ ई०) थे तथा सौ के लगभग पुस्तकों की रचना इनकी लेखनी से हुई। इनकी 'कवितार्किक सिंह' तथा 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि इनकी अलोक सामान्य विद्वत्ता तथा प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त मानी जा सकती हैं। इन्होंने काव्य तथा दर्शन दोनों विभागों में अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे हैं। इनके काव्य ग्रन्थों में संकल्पसूर्योदय, हंसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय तथा पादुकासहस्र काव्यदृष्टि से नितान्त सरस रचनाएँ हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में इनकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं—(१) तत्त्वटीका (श्रीभाष्य पर विस्तृत व्याख्या), (२) अधिकरण सारावली (ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणों का पद्यमय विवेचन); (३) तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धिटीका के साथ); (४) न्याय परिशुद्धि तथा (५) न्यायाञ्जन (विशिष्टाद्वैत की प्रमाणमीमांसा विषयक निबन्ध); (६) 'शतदूषणी' (अद्वैतमत की कड़ी समीक्षा); (७) गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका (गीता पर रामानुज भाष्य की प्रमेयबहुला टीका); (८) सेश्वरमीमांसा (कर्ममीमांसा का वर्णन) (९) पाञ्चरात्ररक्षा, (१०) सच्चरित्ररक्षा, (११) निक्षेपरक्षा, (१२) न्यासविंशति—आदि निबन्धों में पाञ्चरात्रानुसार प्रपत्ति तथा धर्म की विस्तृत मौलिक विवेचना है। ये रामानुज के अवतार माने जाते हैं। इनका कार्य श्रीवैष्णवों की रक्षा तथा उस मत के विपुल प्रचार में इतना महत्त्वशाली है कि इन्हें द्वितीय रामानुज मानना कथमपि असंगत नहीं है।

---

१ विशेष के लिए देखिये—मेरा 'भारतीय दर्शन' पृ० ४८४-८९

लोकाचार्य—टेङ्कलै मत के उद्भावक थे। प्रपत्ति के ऊपर उनका 'श्रीवचनभूषण' नितान्त प्रौढ़, उपादेय ग्रन्थ है। इन्होंने १६ रहस्यों की रचना की है जिनमें 'तत्त्वत्रय' तथा 'तत्त्वशेखर' प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीवैष्णव मत की संरक्षा में इन्होंने अपने प्राण गँवाये। १३२७ ई० में श्रीरंगम् के यवनों के द्वारा लूटे जाने पर मन्दिर की रक्षा में इन्होंने अपने प्राण दिये।

श्री तिरुमलै तातय्या—उस समय तामिल नाड् के वैष्णवों के नेता माने जाते थे। इन्होंने १३६६ ई० बुक्क महाराज की संरक्षकता में जैनियों के साथ मेल-मिलाप-किया जिसकी विस्तृत चर्चा पीछे की गई है। इस प्रकार विद्यारण्ययुग श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के इतिहास में ग्रन्थ रचना की दृष्टि में नितान्त गौरवास्पद है।

द्वैत वेदान्त साहित्य

द्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक का नाम आनन्दतीर्थ था पर वे पूर्णप्रज्ञ, पूर्णबोध या मध्व के नाम से विख्यात थे। इनकी रचना में इस युग के पूर्व की रचनायें हैं। विद्यारण्य के समय में इस मत के तीन लेखक विद्यमान थे—अक्षोभ्यतीर्थ, जयतीर्थ तथा नारायण पण्डित।

अक्षोभ्यतीर्थ—उडुपि मठ के चतुर्थ अध्यक्ष थे। इन्होंने 'माध्वतत्त्वसार संग्रह' में माध्वमत के सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इनके विषय में एक किम्वदन्ती प्रसिद्ध है। इनके साथ विद्यारण्य का वेदान्त के विषय में शास्त्रार्थ हुआ जिसमें 'वेदान्त देशिक' मध्यस्थ थे। शास्त्रार्थ के फल के विषय में मतभेद है। द्वैतवादियों का कहना है कि अक्षोभ्यतीर्थ ने विद्यारण्य को हरा दिया इस विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

असिनाऽतत्वमसिना परजीवप्रभेदिना
विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत्॥

इस विजय के उपलक्ष में 'मुलुबगल' में उन्होंने अपना कीर्तिस्तम्भ स्थापित किया। परन्तु अद्वैतियों का दावा है कि विद्यारण्य ही विजयी हुए थे। इनके हिसाब से पूर्वोक्त पद्य का उत्तरार्ध है—

अक्षोभ्यं क्षोभयामास विद्यारण्यमहामतिः।

(२) जयतीर्थ—ये अक्षोभ्यतीर्थ के साक्षात् शिष्य थे। सुनते हैं इन्होंने २३ ग्रन्थों की रचना की है जिनमें आचार्य मध्व के ग्रन्थों पर भाष्यों की ही

अधिकता है। सम्प्रदाय में इनके अलौकिक पाण्डित्य की बड़ी ख्याति है। इनकी यह प्रशंसा सर्वथा सत्य है—

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्री जयतीर्थवाक्

इन्होंने मध्व के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर (१) 'तत्त्वप्रकाशिका' तथा गीतामाध्वभाष्य पर (२) 'न्यायदीपिका' नामक प्रौढ़ टीकाएँ लिखी हैं (३) तत्त्वोद्योत, (४) तत्त्वविवेक, (५) तत्त्वसंख्यान तथा (६) प्रमाणलक्षण—ये सब द्वैत प्रतिपादक मान्य ग्रन्थ हैं। इनकी (७) "प्रमाणपद्धति" द्वैत न्याय के सिद्धान्तों की प्रतिपादिका है। इसकी महत्ता का परिचय इस बात से चलता है कि आगे चलकर इसकी आठ टीकायें बड़े बड़े विद्वानों के द्वारा लिखी गईं। (८) 'वादावली' भी इस प्रकार की श्रेष्ठ रचना है। जयतीर्थ की महती विशेषता है द्वैतमत को तर्क पर प्रतिष्ठित करना। इनकी रचनाओं की प्रौढ़ता तथा व्यापकता सर्वथा श्लाघनीय है। अक्षोभ्यतीर्थ की मृत्यु १३६७ ई० में हुई। तदनन्तर ये गद्दी पर बैठे। २२ वर्षों (१३६७ ई०—१३८६ ई०) तक इन्होंने आचार्यपद को अलंकृत किया।

(३) व्यासतीर्थ नामक जयतीर्थ के एक शिष्य थे जिन्होंने 'जयतीर्थविजय' नामक ग्रन्थ में जयतीर्थ का जीवन चरित लिखा। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई उपनिषदों पर टीकाएँ लिखी हैं।

(४) नारायण पण्डित—ये द्वैत सम्प्रदाय के विख्यात लेखक माने जाते हैं। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मणिमञ्जरी' में आचार्य मध्व के जीवन चरित विषयक अनेक विचित्र बातें दी गई हैं। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ हैं—सुमध्वविजय, अणुमध्वविजय, अद्वैतकालानल, नयचन्द्रिका तथा मध्वमन्त्रार्थमञ्जरी। ये अपने स्वतन्त्र तथा उद्दीप्त विचार के लिए विशेष कीर्ति सम्पन्न हैं।

शैवागम साहित्य

कर्नाटक देश में शैवागम के प्रचारक शैव सन्त क्रियाशक्ति के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस सम्प्रदाय के आचार्य का नाम काशीविलास क्रियाशक्ति था। ये उस समय के एक पहुँचे हुए महात्मा प्रतीत होते हैं। इनकी रचना से हम परिचित नहीं हैं, परन्तु

उनके शिष्य माधवमन्त्री की रचना उपलब्ध है। आगे चल कर यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि माधवमन्त्री हरिहर तथा बुक्क के द्वारा अपरान्त के शासक नियत किये गये थे तथा माधवाचार्य के समकालीन होने पर भी उनसे नितान्त भिन्न व्यक्ति थे। ये भारी योद्धा, तुरुष्कों के मानमर्दन करने वाले वीर पुरुष थे। साथ ही साथ वेदान्त और आगम के पण्डित भी थे। गोवा में यवनों के द्वारा नष्ट किये गये देवताओं की मूर्तियों का तथा उनकी उपासना का इन्होंने पुनरुद्धार किया। इसी कारण इन्होंने अपने को 'उपनिषन्मार्गप्रवर्तक' बतलाया है। इनकी दो रचनायें हैं:—(१) शैवाम्नायसार तथा (२) सूतसंहिता की तात्पर्यदीपिका टीका। 'सूतसंहिता' स्कन्द पुराण के अन्तर्गत एक विशिष्ट दार्शनिक अंश है। इसी की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या माधवमन्त्री ने की है। ग्रन्थ बहुत बड़ा है और एक हज़ार से ऊपर पृष्ठों में समाप्त हुआ है तथा आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि (नं० २५) में तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ है। शिलालेखों से इस मत के अन्य आचार्यों का पता चलता है। काशीविलास के दूसरे शिष्य का नाम त्र्यम्बक क्रियाशक्ति था जो गंगादेव तथा देवराज के गुरु बतलाये गये हैं[1]। त्र्यम्बक के शिष्य का नाम चन्द्रभूषण था। इस प्रकार विद्यारण्ययुग में शैवागम के आचार्य अपने सिद्धान्तों के प्रचार में पर्याप्त रूप से प्रयत्नशील थे।

न्याय के विषय में विद्वानों को उदासीनता न थी। न्याय के ऊपर ग्रन्थलेखकों के नाम नीचे दिये हैं:—

न्याय

(१) चेन्नु भट्ट—ये सहज सर्वज्ञ विष्णु के पुत्र थे तथा हरिहर द्वितीय के समय में विद्यमान थे। इन्होंने केशवमिश्र की तर्कभाषा पर टीका लिखी है। इस ग्रन्थ की पुष्पिका[2] इस प्रकार है—

इति हरिहररायपालितेन सहजसर्वज्ञ विष्णुदेवाराध्यतनूजेन
सर्वज्ञानुजेन चेन्नुभट्टेन विरचितायां तर्कभाषाव्याख्यायां......

सर्वज्ञविष्णु विद्यातीर्थ का ही गृहस्थाश्रम का नाम था।। चेन्नु भट्ट इन्हीं के द्वितीय पुत्र थे। इनके जेठे भाई का नाम 'सर्वज्ञ' था।

---

[1] द्रष्टव्य विजयनगर स्मारक ग्रन्थ पृ० ३०२

[2] द्रष्टव्य सोरसेज़ आफ़ विजयनगर हिस्ट्री पृ० ४१

(२) माधवभट्ट—ग्रन्थ का नाम तर्कभाषाविवरण।

(३) बलभद्र—तर्कभाषा टीका के रचयिता।

(४) नारायण भट्ट—तर्कभाषाप्रकाश के कर्ता।

(५) मुरारिभट्ट—तर्कप्रकाश के रचयिता।

अधिकतर ये ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। अतः इनके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

साहित्य तथा विज्ञान

काव्य तथा साहित्य के विषय में भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे।

(१) गङ्गादेवी—हरिहर के भाई कम्पण की विदुषी पत्नी थीं। स्वयं रानी थीं तथापि काव्यकला में बड़ी निष्णात थीं। इन्होंने अपने पति के विजय की कहानी काव्य रूप में लिखी है। नाम है—कम्पराजविजय। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है। गंगादेवी की कविता सच-मुच गंगा के समान निर्मल तथा सरस है।

(२) नरहरि—ये विद्यारण्य के शिष्य थे। नैषधकाव्य पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी है। अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है:—

> यं प्रासूत त्रिलिङ्ग क्षितिपति सततारा‌धिताङ्घ्रिः स्वयं
> पातिव्रत्यैकसीमा सुकृति नरहरिं नीलिमा यं प्रसूता।
> यं विद्यारण्ययोगी कलयति कृपया तत्कृतौ दीपिकायां
> स्वैरं नीराजितोऽभूदतिललितपदो दिङ्मितः सर्ग एषः॥

(३) विद्यामाधव—कुमारसम्भव तथा किरातार्जुनीय पर इन्होंने टीका लिखी है। ग्रन्थकी पुष्पिका में इनका कुछ वर्णन मिलता है—

> वेद व्याकरणास्पदं कविमहाराजः सतर्कस्मृतिः
> छन्दोलक्षण-काव्यनाटक-कलाविज्ञान संपन्निधिः।
> ज्योतिः शास्त्र-विदग्धिमाभिजनिता दुर्गर्वसर्व कषः
> विद्यामाधवपण्डितो विजयते विद्वद्विभूषामणिः॥

ये ज्योतिःशास्त्र के भी पण्डित प्रतीत होते हैं। सम्भवतः मुहूर्तदर्शन या विद्यामाधवीय इन्हीं की रचना है।

(४) विष्णु सूरि—विद्यामाधव (नं० ३) के पुत्र। ये बुक्क के पुत्र

माल्लप्प के समकालीन थे। अपने पिता के ग्रन्थ मुहूर्तदर्शन की इन्होंने 'मुहूर्त दीपिका' नामक टीका लिखी है।

(५) विद्यामाधव—(नं० ३) से भिन्न व्यक्ति। 'पार्वती-रुक्मणीय' के कर्ता।

(६) लक्ष्मण पण्डित—बुक्क द्वितीय की संरक्षकता में इन्होंने 'वैद्यराज वल्लभ' नामक वैद्यक ग्रन्थ की रचना की।

जैन धर्म

जैनधर्म के भी अनुयायियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे। इनमें प्रधान थे पण्डितराय श्रुतमुनि सिंहनन्दी, पुष्पसेन तथा मघनन्दी। इन्हीं के शिष्य थे इरुगप्प दण्डनाथ जो हरिहर द्वितीय से लेकर देवराय द्वितीय के समय तक दण्डनायक थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'नानार्थ रत्नमाला' है जो कोषविषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की पुष्पिकामें अपना विशेषवृत्त दिया है[1]

---

[1] द्रष्टव्य—Sources of Vijayanagar History p. 52

द्वितीय खण्ड—आचार्य सायण

पञ्चम परिच्छेद

आचार्य सायण का वृत्त

सायण-माधव का कौटुम्बिक वृत्त

यह कम परिताप का विषय नहीं है कि जिन कलाकुशल कोविदों ने अपनी कमनीय कृतियों से संस्कृतसाहित्य के भाण्डागार की पूर्ति की, जिनके कारण यह साहित्यसंसार के श्लाघनीय साहित्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान आज भी बनाये हुए है, जिनकी रमणीय रचनाएँ संसार के मनीषीजनों के आदर तथा सम्मान की बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, उन्हीं के सामान्य परिचय से भी हम सदा के लिए वञ्चित हैं। कुछ तो महान् राष्ट्रों के विशाल गौरव को भी अतीत की सामग्री बनानेवाले कुटिल काल की लीला का विलास है और कुछ इस क्षणभङ्गुर संसार की परिवर्तनशीलता तथा अस्थिरता का अनुभव करनेवाले, अपने जीवन को विश्वसमुद्र के ऊपर एक अतीव सामान्य बुद्बुद समझनेवाले इन भारतीय भव्य आत्माओं की जीवनदृष्टि का परिणाम है। इन कारणों के स्वरूप की बिना छानबीन किये ही हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जो कुछ भी कारण हो, लेकिन आज कविताकामिनी के कमनीय अलङ्कारभूत महाकवि-मूर्धन्य स्वयं कालिदास का समय शताब्दियों का थपेड़ा खाता हुआ इधर से उधर अनिश्चय के आन्दोलन का अनुभव कर रहा है। संस्कृत के अन्य कवियों तथा पण्डितों के विषय में भी हमारा ज्ञान अधिक निश्चय को प्राप्त किये हुए नहीं है। ऐसी दशा में यह कम हर्ष का विषय नहीं है कि सायणाचार्य के कौटुम्बिक वृत्त के विषय में हमारे ज्ञान के अनेक साधन[1] उपस्थित हैं, जिनकी समुचित सहायता से इनके कुटुम्ब का पर्याप्त परिचय हम प्राप्त करते हैं।

---

[1] देखिये—'एपिग्राफिका इंडिका' तीसरी जिल्द, 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' के सब भाग तथा 'मैसूर आर्किओलाजिकल रिपोर्ट' के भिन्न भिन्न वर्षों की जिल्दें।

सायणाचार्य के ग्रन्थों से इनके इतिहास तथा व्यक्तिगत जीवनचरित की अनेक घटनाओं का हम परिचय पाते हैं। सायण ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ तथा अन्त में बहुत सी ज्ञातव्य बातों का निर्देश किया है, जो इनके जीवनचरित लिखने में इस समय बहुमूल्य प्रतीत हो रही है। इनके विज्ञ भ्राताओं की रचनाओं से भी इन बातों की सत्यता की परिपुष्टि पर्याप्त मात्रा में होती है। इसके अतिरिक्त विजयनगर के आदिम शासकों के अनेक शिलालेखों में इनका तथा इनके कुटुम्बियों का विशेष उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में भी इनके निर्देश कम नहीं है। प्रसिद्ध शाङ्करपीठ श्रीशृङ्गेरीमठ के आचार्यों से सम्बन्ध रखनेवाले 'गुरुवंश-महाकाव्य'[1] तथा अन्य ग्रन्थों में सायण तथा उनके ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य का विपुल वृत्त उपलब्ध होता है। शिलालेखों तथा शासनपत्रों में तो इनके उल्लेख इतनी अधिकता से मिलते हैं जितने अन्य किसी ग्रन्थकार के विषय में शायद ही मिलते हों। इन्हीं समग्र सामग्रियों का उपयोग कर इधर-उधर छिन्न-भिन्न अंशों को पूर्ण कर सायण के जीवनवृत्त तथा कुटुम्ब का यथासम्भव वर्णन किया जाता है।

सायणाचार्य का कौटुम्बिक वृत्त

सायणाचार्य के विशेष कौटुम्बिक वृत्त देने से पहले यह निन्तात आवश्यक है कि हम इसका निर्णय कर लें कि ये किस देश के ब्राह्मण थे। सायण तथा इनके भ्राताओं का कर्मक्षेत्र विजयनगर तथा तत्सम्बद्ध प्रदेश ही में था। विजयनगर तुङ्गभद्रा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह नगर ऐसे स्थान में था जहाँ कर्णाटक देश से आन्ध्रप्रान्त मिलता है। यह न शुद्ध कर्नाटक देश ही में है और न विशुद्ध आन्ध्रप्रदेश में, प्रत्युत यह दोनों के सीमाप्रान्त में स्थित है। इस स्थान पर दोनों देशों के ब्राह्मणों का निवास प्राचीन काल में था तथा आधुनिक काल में भी बतलाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि सायणाचार्य कर्णाटक थे अथवा आन्ध्र। सायण का नाम तो कर्णाटकशैली पर रखा गया अवश्य प्रतीत होता है। इनका मूल

सायण का कुल

---

[1] यह ऐतिहासिक ग्रन्थ श्रीरङ्गम् के श्रीवाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। अभी ग्रन्थ का आधा भाग ही छपा है। शेष अंश अभी छपने वाला है।

कर्णाटक नाम 'सायरणा' मालूम पड़ता है। इस प्रकार के नाम आज भी कर्णाटक देश में सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। कर्णाटकदेशीयों के तामरणा, सामरणा तथा रामरणा आदि नाम बहुलता से पाये जाते है। सायण के पिता का 'मायण' नाम भी 'मायरणा' का विशुद्ध रूप जान पड़ता है। इनके अन्य कुटुम्बियों के अभिधान भी इसी कर्णाटकशैली के अनुसरण पर रखे गये प्रतीत होते हैं। अतः यदि इस नामकरण-शैली को महत्त्व दिया जाय, तो कहना पड़ेगा कि सायण कर्णाटक थे, परन्तु इसके बाधक अनेक प्रमाणों की उपस्थिति में यह अनुमान विशेष सबल नहीं जान पड़ता। सायण ने स्वयं ही 'अस्माकमान्ध्राणाम्' लिखकर अपना उल्लेख किया है। सायण के भागिनेय अहोबल पण्डित ने संस्कृत में तेलगू (आन्ध्र) भाषा का एक प्रामाणिक व्याकरण लिखा है। जब भागिनेय तेलगू भाषा-भाषी है अर्थात् आन्ध्र है तब मातुल का भी तद्देशीय होना अनुमान से सिद्ध है। अतः सायण का आन्ध्रदेशीय होना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

सायणाचार्य के पूज्य पिता का नाम 'मायण' था। इनका हमें नाममात्र ही परिचय है। इनके विषय में नाम के अतिरिक्त हमें अन्य विवरण कुछ भी नहीं मिलता। सायण की माता का नाम सर्वत्र 'श्रीमती' मिलता है, केवल काञ्ची के अरुलाल-पेरुमाल मन्दिर के अधूरे शिलालेखमें 'श्रीमायी' मिलता है। दोनों नाम एक समान ही है, परन्तु अनुमान होता है कि 'श्रीमायी' नाम ही उनकी माता का था, इसी का संस्कृत में ढाला गया रूप 'श्रीमती' है। सायण इन्हीं मायण तथा श्रीमती के पुत्र थे। सायण तीन भाई थे। जेठे भाई का नाम माधवाचार्य था, जो अपने समय के एक बड़े विशिष्ट विद्वान् तथा प्रभावशाली राजनीतिपटु मन्त्री थे। छोटे भाई का नाम 'भोगनाथ' था, ये एक बड़े भारी कवि थे। सायण का गोत्र भारद्वाज था। ये कृष्णयजुर्वेदसम्बन्धी तैत्तिरीयशाखा के ब्राह्मण थे। इनका सूत्र बौधायन था। इनके कुटुम्ब का इतना सामान्य वर्णन इनके ग्रन्थों में सर्वत्र पाया जाता है। सायणाचार्य के जेठे भाई माधवाचार्य अपने समय के एक जाज्वल्यमान विभूति थे। इनका पद भारत के राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास में अत्यन्त माननीय था। ये सायण की उन्नति के सर्वथा कारण थे।

भोगनाथ सायण के छोटे भाई थे। ये अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के समान ही प्रसिद्ध पुरुष थे। ये बुक्कराय के भतीजे तथा कम्पराय के पुत्र सङ्गम भूपाल

(द्वितीय) के नर्मसचिव थे। इसका पता हमें इन्हीं की लिखी 'बिट्रगुण्ट-प्रशस्ति' के निम्नलिखित श्लोक से चलता है जो उक्त प्रशस्ति के प्रायः अन्त में मिलता है :—

भोगनाथ

"इति भोगनाथसुधिया सङ्गमभूपालनर्मसचिवेन
श्रीकण्ठपुरसमृद्ध्यै शासनपत्रेषु विलिखिताः श्लोकाः।

भोगनाथ के सङ्गमभूपाल के साथ अत्यन्त घनिष्ठ परिचय की सूचना हमें इनके ज्येष्ठ भ्राता सायण के "अलङ्कारसुधानिधि" से मिलती है। वे कवि थे। जहाँ कहीं इनका निर्देश मिलता है वहाँ वे कवि ही कहे गये हैं। 'अलङ्कारसुधानिधि' के द्वितीय पद्य के 'भोगनाथस्य वा कवेः' अंश में भोगनाथ का कवि के रूप में उल्लेख मिलता है। काञ्ची के शिलालेख में भी भोगनाथ कवि कहे गये हैं—

"भूष्णुरनुजः श्रीभोगनाथः कविः।"

इन उल्लेखों तथा राजदरबार में इन्हें उपलब्ध सम्माननीय पद से भी यही प्रतीत होता है कि भोगनाथ अपने समय के एक कमनीय काव्यकला-कुशल कवि थे। इनकी उपलब्ध रचनाएं इनकी अलौकिक काव्यप्रतिभा के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। भोगनाथ की समग्ररूप में प्राप्त रचना बिट्रगुण्ट के शिलालेख की प्रशस्ति है[1] जिसमें इन्होंने अपने आश्रयदाता तथा अन्तरङ्ग मित्र सङ्गमभूपाल की कीर्ति तथा वदान्यता का बहुत ही रोचक, ललित तथा विशद वर्णन किया है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, परन्तु काव्यदृष्टि से भी यह प्रशस्ति अनेक अंश में—शैली की परीक्षा में तथा गुणों की सम्पन्नता में—विशेष गौरवशालिनी है। इस प्रशस्ति के अतिरिक्त इनके कम से कम ६ काव्य और भी थे, क्योंकि इन सब का उल्लेख सायणाचार्य ने अपने अलङ्कारप्रतिपादक ग्रन्थ 'अलङ्कारसुधानिधि' में किया है। ये ग्रन्थ हैं—१—रामोल्लास, २—त्रिपुरविजय, ३—शृङ्गारमञ्जरी, ४—उदाहरणमाला, ५—महागणपतिस्तव और ६—गौरीनाथाष्टक।

यदि ये ग्रन्थ समग्र अंश में मिलते तो हम भोगनाथ की अलौकिक काव्यप्रतिभा की प्रचुर परीक्षा कर पाते, परन्तु इनके जितने ही अंश उपलब्ध

[1] यह शिलालेख 'एपिग्राफिका इण्डिका' के ३ री जिल्द में अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया है।

हैं उतने से ही हम इनकी श्लाघनीय योग्यता, काव्यकुशलता तथा शास्त्र-प्रवीणता का सामान्य परिचय प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ हैं। सायणाचार्य के हृदय में भोगनाथ की कविता के विषय में कितने ऊँचे विचार थे तथा वह उसे किस दृष्टि से देखते थे, इसका पता इस बात से चलता है कि अलङ्कारों के उदाहरणों को स्वयं न देकर सायण ने जिज्ञासु पाठकों को भोगनाथ के काव्यों के निरीक्षण करने के लिए कहा है—

"तेषामुदाहरणानि भोगनाथ-काव्येषु द्रष्टव्यानि।"

वास्तव में भोगनाथ की कविता भी अलङ्कारों से परिपूर्ण है, प्रसादगुण से ओतप्रोत है, काव्यकल्पना की ऊँची उड़ान है। नमूने के तौर पर उनके कतिपय पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। अपने आश्रयदाता राजा सङ्गम की कीर्तिकौमुदी का वर्णन कवि ने कितनी सुन्दर भाषा में किया है—

"यद्यशः प्रसरणेन भूयसा ह्लादमेयुषि परं जगत्त्रये।
अश्नुते विफलतां न चन्द्रमाः केवलं कुमुदिनीविकाशनात्॥"

अर्थात् राजा का यश चारों ओर फैल रहा है। इसी कारण से तीनों लोक परम आनन्द को प्राप्त कर रहा है, फिर बेचारे चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है? क्या वह बिल्कुल व्यर्थ है? नहीं नहीं, वह तो केवल कुमुदिनी को खिला कर अपनी सफलता बनाये हुए है। आशय यह है कि जिस सुधांशु का काम समस्त संसार का रञ्जन करना था, वह तो भूपाल की कीर्ति के सामने केवल कुमुदिनी को खिला कर चरितार्थ हो रहा है। उसका काम केवल कुमुदिनी का खिलाना ही रह गया है, अन्यथा वह बिल्कुल व्यर्थ है। 'त्रिपुर-विजय' में कितना सुन्दर वर्णन है—

"उपर्यधो रचितमयश्च राजतं तयोर्द्वयोः कनकमयं च मध्यतः।
पुरत्रयं दहनविधेः पुरोऽप्यगात् सधूमतां सदहनतां सभस्मताम्॥"

अर्थात् त्रिपुर का ऊपरी भाग लोहे का बना हुआ है। बिचला भाग चमकते सोने का तथा नीचे का हिस्सा चाँदी का है। अतः जब इन तीनों भागों से प्रभा बिखर रही है तो जान पड़ता है कि आग लगने के पहले ही उससे धूम-समूह निकल रहा है, कहीं पर आग लगी हुई है तथा कहीं पर ढेर का ढेर भस्म पड़ा हुआ है। 'गौरीनाथ' से आकांक्षा की आग से जलने-वाले, बढ़नेवाले मत्सर गुण से आक्रमण किये गये, पापाचरण में निरत अपने

लिए कवि ने जिन शब्दों में दया की भिक्षा माँगी है वे भक्तों के पढ़ने ही लायक हैं—

"कष्टाय प्रसवाय शास्त्रपदवीशिष्टाय कामानल-
प्लुष्टाय, प्रथमानमत्सरगुणाविष्टाय दुष्टात्मने।
रुष्टाय प्रतिषिद्धकार्यघटनातुष्टाय सृष्टागसे
गौरीनाथ! गुणाधिनाथ! जनक! प्रीणातु मह्यं भवान्॥"

सायणाचार्य की एक भगिनी भी थी। इसका पता हमें शिलालेखों से चलता है। इनका नाम 'सिङ्गले' था। इनका विवाह रामरस नामक व्यक्ति से हुआ था। इनके पुत्र का नाम 'लक्ष्मीधर देव' मिलता है। उनके गाणपत्य होने का हम अनुमान सहज में कर सकते हैं, क्योंकि इन्होंने राजा देवराय के समय में १४१० ई० के २० फरवरी को एक मन्दिर में गणपति की प्रतिमा स्थापित की थी। इन लक्ष्मीधर देव के अतिरिक्त सायणाचार्य के एक दूसरे भागिनेय का भी पता हमें परम्परा तथा प्रसिद्धि से चलता है। इस दूसरे भागिनेय का नाम अहोबल पण्डित है। ये अपने समय के संस्कृत तथा तेलगु भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् समझे जाते थे। इन्होंने संस्कृत में तेलगु भाषा का एक विस्तृत तथा प्रामाणिक व्याकरण बनाया है, जिसमें इन्होंने अपने मातुल की 'धातुवृत्ति' का सादर उल्लेख किया है। यह समुल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से कितने महत्त्व का है, इसका वर्णन माधवाचार्य तथा विद्यारण्य की एकता सिद्ध करने के समय हम आगे करेंगे। पता नहीं कि यह अहोबल पण्डित इसी भगिनी के पुत्ररत्न थे या किसी अन्य भगिनी के। जब तक इसका पता नहीं चलता, तब तक हमें इन भागिनेयों के नाम तथा काम के वर्णन पर ही सन्तोष करना चाहिए।

सायण के भागिनेय

सायण के पुत्रों के विषय में सौभाग्यवश हमारी जानकारी कई अंशों में अधिक है। जिस प्रकार सायण भ्राताओं के विषय में सौभाग्यशाली थे, उसी प्रकार पुत्र के विषय में भी थे। 'अलङ्कारसुधानिधि' में उद्धृत निम्नलिखित पद्य से हम सायण के पुत्रों के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं—

सायण के पुत्र

"तत् संव्यञ्जय कम्पण! व्यसनिनः सङ्गीतशास्त्रे तव
प्रौढिं मायण! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय।

शिक्षां दर्शय शिङ्गण ! क्रमजटाचर्चासु वेदेष्विति,
स्वान् पुत्रानुपलालयन् गृहगतः सम्मोदते सायणः ॥"

यह पद्य सायण के सुखमय गार्हस्थ्यजीवन के एक मनोरम दृश्य का सुन्दर चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। राजकाल से अवकाश पाकर जब कभी सायण अपने घर पर आते थे तब अपने पुत्रों से प्रेम प्रदर्शित कर बड़े सुख का अनुभव करते थे। वह कह रहे हैं कि ए कम्पण ! सङ्गीतशास्त्र में अपनी प्रवीणता प्रदर्शित करो। मायण ! तुम गद्यपद्य की रचना में अपनी चतुरता दिखलाओ। शिङ्गण ! तुम वेदों के क्रम, जटा तथा विभिन्न पाठों में अपनी शिक्षा को प्रकट करो। इस प्रकार अपने पुत्रों का लालन करते हुए भाग्यशाली सायण घर पर आकर आनन्द मनाते हैं। यह जीवन भी कितना आनन्दमय है। बाहर मन्त्री के महत्त्वशाली तथा दायित्वपूर्ण कार्य में वे व्यस्त हैं और भीतर आते ही पुत्रों के प्रेममय पठन-पाठन को सुनकर थकान को मिटाते हैं तथा उस अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं जिसे लक्ष्मी तथा सरस्वती के कुछ ही कृपापात्र जानते हैं।

इस पद्य की परीक्षा से हम सायण के तीन पुत्रों का परिचय पाते हैं। श्लोक में दिये गये क्रम को मानें तो कम्पण सायण के जेठे लड़के ठहरते हैं। ये सङ्गीतशास्त्र के विशेष पण्डित थे। दूसरे पुत्र मायण कवि थे। ये गद्य-पद्य की रचना करने में विशेष प्रवीण थे। यदि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रचयिता सायण के पुत्र माधव के साथ इनकी एकता मानी जाय—और इस एकता के मानने के लिए अनेक प्रबल प्रमाण हैं—तो यह मायण दर्शनशास्त्र के भी परिनिष्ठित ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इनके गुरु 'सर्वज्ञ विष्णु' थे, जिनको इन्हों ने 'सर्व-दर्शनसंग्रह' के आरम्भ में प्रणाम किया है। तृतीय पुत्र शिङ्गण वैदिक थे। वेद के जटापाठ जैसे कठिन पाठ का भी इन्होंने अभ्यास किया था। ये बड़े धनवान् और साथ ही साथ बड़े भारी दानी भी थे। शिङ्गण ने अनेक ब्राह्मणों को भूमिदान दिया था। 'शतपथ-ब्राह्मण' के प्रतिकाण्ड की सायणाचार्यकृत टीका के अन्त में निम्नलिखित दो पद्य उद्धृत मिलते हैं जिनसे शिङ्गण की विपुल उदारता तथा वदान्यता की पुष्टि होती है। औदार्य-सूचक पद्य ये हैं—

"ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णवर्णौ,
सप्ताब्धीन् पञ्च सीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः।

रत्नोस्रां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यः,
व्यश्राणीत् विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटं च ॥
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभवमतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृतमजडो राजतं राजपूज्यः ।
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणजमनृणः शार्करं चार्कतेजाः ।
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरिमकृत मुदा पात्रसात् सिङ्गणार्यः ॥"

इन श्लोकों का भावार्थ यही है कि शिङ्गण ने असंख्य सम्पत्ति का दान दिया था। दानवस्तुओं में धान्यराशि, गुड़, कपास, घृत तथा लवण जैसी सामान्य वस्तुएँ थीं। साथ ही साथ चाँदी, सोना तथा रत्नों का भी इनमें समावेश था। इस कथन में अत्युक्ति की मात्रा को छोड़ देने पर भी यह निश्चित है कि सायण के ये तृतीय पुत्र धन-धान्य से जिस प्रकार सम्पन्न थे, उसी प्रकार उदारता के भाव से प्रेरित होकर संख्यातीत दान देने का भी उनका स्वभाव था। संक्षेप में सायणाचार्य के कुटुम्ब का यह सामान्य वर्णन है।

सायण-माधव के गुरु

किसी महान् व्यक्ति के व्यक्तित्व को सच्चे रूप में परखने के लिए उसके चरित्र को उस विशिष्ट ढङ्ग में ढालनेवाले—चरित्र के निर्माता—कारणों का पर्याप्त अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। किसी वृक्ष की वर्तमान स्थिति तथा प्रवृद्धि को यदि हम सचमुच समझना चाहते हैं तो उसे इस रूप में परिणत करनेवाले कारणकलापों की छान-बीन करनी पड़ेगी। किसी व्यक्ति-विशेष के उदात्त चरित्र, अनुकरणीय आदर्श तथा श्लाघनीय शीलसौन्दर्य की विशेषता तथा अनुपमता की यदि हम सच्चे रूप से परीक्षा करना चाहें तो यह हमारे लिए नितान्त आवश्यक है कि उन साधनों का परिशीलन किया जाय, जिन्होंने उसके जीवन को उस दिशा में प्रवर्तित तथा परिवर्तित किया है। इन नियामक कारणों का समुचित प्रकार से अध्ययन किये बिना हम किसी महान् व्यक्ति के छिपे हुए जौहर को भली भाँति नहीं समझ सकते। सायणाचार्य एक महान् व्यक्तित्वसम्पन्न पुरुष थे। उनका जीवन-चरित 'जायस्व म्रियस्व' वाले साधारण मानवों के जीवनचरित की तरह क्षुण्ण मार्ग से प्रवाहित नहीं हुआ था। उन्होंने अपने विद्यावैभव तथा व्यवहारनैपुण्य के कारण अपने लिए एक विशिष्ट मार्ग बनाया, जिस पर

ये अपने जीवन के सन्ध्याकाल में भी उसी उत्साह, उसी आसक्ति तथा उसी प्रेम के साथ एकरङ्ग डटे रहे जिस प्रकार अपने यौवनकाल में। इन्होंने संस्कृत-साहित्य को एक गौरवमयी विभूति प्रदान की तथा भारतीय इतिहास में एक महान् आदर्श को लाकर उपस्थित किया। ऐसे महान् पुरुष के चरित्र की कुंजी खोजने के लिए हमें उनकी शिक्षा-दीक्षा, महान् आत्माओं के व्यापक प्रभाव तथा अन्य एतादृश कारणों का अध्ययन करना चाहिए। सायणाचार्य का शिक्षण किस प्रकार हुआ ? किन शास्त्रों की शिक्षा इन्हें दी गयी ? इनका बाल्यकाल किस प्रकार बीता ? इनके बाल्यकाल में भविष्य ओजस्विता तथा विद्वत्ता की सत्ता का आभास किस प्रकार लोगों को मिला करता था ? इन प्रश्नों के समुचित उत्तर देने के साधन आज पाँच सौ वर्षों के अनन्तर न तो हमारे पास वर्तमान ही है और न खोज करने पर भी उनके भविष्य में प्राप्त होने की आशा ही है। इनके तथा इनके भ्राताओं के ग्रन्थों के अनुशीलन करने से हम केवल कतिपय विद्वानों का परिचय प्राप्त करते हैं जिन्हें ये अपना गुरु मानते थे तथा जिनके चरित्र तथा शिक्षण का प्रभाव सायण के जीवनचरित पर अवश्यमेव पड़ा होगा। परन्तु इन गुरुओं में से किससे इन्होंने कितना ज्ञान सम्पादन किया, किससे इन्होंने अपने लिए कितनी व्यवहार कुशलता सीखी, इसका ठीक ठीक उत्तर उपयुक्त साधनों के अभाव से हम आज नहीं दे सकते। इनके गुरुओं के विषय में जितना भी विवरण हम प्रस्तुत कर पाये हैं, उसी को हम बहुत समझते हैं तथा आशा करते हैं कि प्राचीन चरित लिखने की कठिनाइयों को अनुभव करनेवाले सहृदय पाठक इस विवरण पर ही सन्तोष करेंगे।

विद्यातीर्थ

सायणाचार्य के ग्रन्थों में इनके तीन गुरुओं के होने का पता चलता है, परन्तु सब से अधिक आदर इन्होंने विद्यातीर्थ के प्रति दिखलाया है। सच तो यह है कि विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठाचार्य उस समय के अत्यन्त प्रख्यात तथा आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पन्न यति थे। ये सायण तथा उनके दोनों भाइयों के ही गुरु नहीं थे, प्रत्युत तत्कालीन विजयनगर के नरेशों के भी ये अध्यात्ममार्ग की शिक्षा देनेवाले गुरु थे। उस समय के ग्रन्थों में इनका

विशेष रूप से उल्लेख मिलता है। इन तीनों गुरुओं का सादर नामोल्लेख माधवाचार्य ने अपने 'कालनिर्णय' में इस प्रकार किया है—

"सोऽहं प्राप्य विवेकतीर्थपदवीमाम्नायतीर्थे परं,
मज्जन् सज्जनसङ्गतीर्थनिपुणः सद्वृत्ततीर्थं श्रयन्।
लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो,
विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्॥"

इनमें सब से पहले विद्यातीर्थ का उपलब्ध वर्णन किया जायगा। विद्यातीर्थ स्वामी अपने समय के एक पहुँचे हुए महात्मा थे। ये परमात्मतीर्थ के शिष्य थे। इन्होंने 'रुद्रप्रश्नभाष्य' की रचना की है। ये त्रिदण्डी स्वामी थे तथा शङ्कराचार्य के आदिम तथा सर्वश्रेष्ठ पीठस्थान शृङ्गेरी के पदाधिष्ठित आचार्य थे। माधवाचार्य तथा सायणाचार्य की इन पर अगाध भक्ति तथा अनुपम श्रद्धा थी। इन दोनों भाइयों के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में विद्यातीर्थ का उल्लेख जिन शब्दों में किया गया है उनसे जान पड़ता है कि वे इन्हें साक्षात् परमात्मा का रूप मानते थे। माधव के 'जीवन्मुक्तिविवेक' के आरम्भ में तथा सायण के वेदभाष्यों के आरम्भ में यह सुप्रसिद्ध श्लोक[1] मिलता है जिसमें विद्यातीर्थ महेश्वर के साक्षात् स्वरूप माने गये हैं—

"यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥"

इसी प्रकार 'न्यायमालाविस्तर' में माधव ने विद्यातीर्थ को एकबार परमात्मा कहकर निर्दिष्ट किया है[2] तथा दूसरी बार भगवान् शिव की अनुग्रहमूर्ति मान कर वर्णन किया है[3]। 'अनुभूतिप्रकाश' में माधव ने अन्तर्यामिश्रुति के द्वारा कथित, अन्तःस्थल में प्रवेश कर शासन करनेवाले

---

[1] यह सुप्रसिद्ध श्लोक जिन ग्रन्थों के मंगलाचरण रूप में पाया जाता है वे माधव या सायण की निःसन्दिग्ध रचना मानी जा सकती हैं। इस श्लोक की टीका अच्युतराम मोडक कृत 'जीवन्मुक्तिविवेक' की व्याख्या में अत्यन्त विद्वत्ता के साथ की गयी है। जिज्ञासु पाठक इसे अवश्य पढ़ें।

[2] प्रणम्य परमात्मानं श्री विद्यातीर्थरूपिणम्।
जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥ (जै० न्या० वि०)

[3] विद्यातीर्थमुनिस्तदात्मनि लसन्मूर्तिस्स्वनुग्राहिका। (जै०न्या०वि०)

विद्यातीर्थ स्वामी को अपना मुख्य गुरु माना है[1]। 'जीवन्मुक्तिविवेक' के अन्त में माधवाचार्य की यह उक्ति, कि इस जीवन्मुक्ति के विवेक से महेश्वर-रूपी विद्यातीर्थ स्वामी मेरे हृदय के अन्धकार को दूर करके मुझे सम्पूर्ण पुरुषार्थों को प्रदान करें, गुरु के प्रति शिष्य के मनोगत भावों को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त कर रही है[2]। सायणाचार्य ने भी इन्हीं शब्दों में गुरुवर्य विद्यातीर्थ से 'शतपथ ब्राह्मण' के भाष्य के अन्त में प्रार्थना की है कि यह 'वेदार्थप्रकाश' गुरु की कृपा से उनके हृदय के अन्धकार को दूर करे तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देकर उन्हें इस भूतल पर परम सौभाग्यशाली बनाये। पूर्वोक्त उल्लेखों से पता चलता है कि माधव तथा सायण विद्यातीर्थ के विशेष ऋणी थे तथा बहुत सम्भव है कि हिन्दूधर्म तथा संस्कृति के पुनरुज्जीवन के प्रति इन भ्रातृद्वयी के उत्साह के मुख्य कारण किसी न किसी रूप में ये ही विद्यातीर्थ स्वामी हों। माधवाचार्य अपने गुरु के प्रति केवल शाब्दिक धन्यवाद प्रदर्शित करके ही सर्वथा सन्तुष्ट न हुए और न इतने से उन्होंने अपनी गुरुभक्ति को चरितार्थ समझा, प्रत्युत विजयनगर के अधीश बुक्कराय की आर्थिक सहायता से इन्होंने शृङ्गेरी में एक सुन्दर मन्दिर बनवाया जिसमें विद्यातीर्थ की 'विद्याशङ्कर' के नाम से मूर्ति स्थापित करवायी। यह मूर्ति आज भी माधवाचार्य की गाढ़ गुरुभक्ति को उद्घोषित करती हुई अपने स्थान पर विराजमान है।

भारतीतीर्थ

भारतीतीर्थ की भी कृपा इन तीनों भाइयों पर कम न थी। ये स्वामीजी विद्यातीर्थ के अनन्तर शृङ्गेरीपीठ पर १२५५ शक में शङ्कराचार्य बनकर प्रतिष्ठित हुए[3]। १३४६ ई० में जब हरिहर ने अपने पाँचों भाइयों के साथ विजय के उपलक्ष्य में शृङ्गेरी की यात्रा की तथा वहाँ के विद्वान् ब्राह्मणों को

---

[1] अन्तः प्रविष्टः शास्तेति अन्तर्यामिश्रुतीरितः।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ (अनुभूतिप्रकाश)

[2] जीवन्मुक्तिविवेकेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थमखिलं देयात् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥ (जीवन्मुक्तिविवेक)।

[3] शृङ्गेरी का मठाम्नाय

अग्रहार दान दिया, तब भारतीतीर्थ श्रीपाद ही शृङ्गेरी के मठाधीश थे। सायण के ग्रन्थों में भारतीतीर्थ का उल्लेख हमें अबतक नहीं मिला है, परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थों में आपका अनेक बार निर्देश मिलता है। अतः तीनों भाइयों में माधव का आप के प्रति विशेष अनुराग तथा प्रेम दीख पड़ता है। 'कालनिर्णय' के उपोद्घात में माधव ने 'लब्धामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो' लिखकर भारतीतीर्थ के उपदेशों का प्रभाव अपने ऊपर व्यक्त शब्दों में स्वीकृत किया है। इतने से ही इनकी भक्ति की इतिश्री नहीं होती, बल्कि भारतीतीर्थ के ऋण को माधव ने अन्य प्रकार से भी माना है। माधवाचार्य ने संन्यास-ग्रहण कर विद्यारण्य मुनि के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। इस अवस्था में माधव ने जिन ग्रन्थों की रचना की, उन सब में इन्होंने अपने गुरु भारतीतीर्थ को भी लेखक के नाम से उल्लिखित किया है। जान पड़ता है कि माधवाचार्य ने भारतीतीर्थ से संन्यास ग्रहण किया था तथा उनके अनन्तर शृङ्गेरी मठ के अध्यक्षपद पर सुशोभित हुए। अतः संन्यासाश्रम ग्रहण करने के अनन्तर विरचित ग्रन्थों में भारतीतीर्थ का लेखक के रूप में निर्देश मिलना स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि युक्तियुक्त भी है। प्रसिद्ध 'पञ्चदशी' भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य स्वामी की सम्मिलित रचना मानी जाती है। रामकृष्ण भट्ट ने पञ्चदशी की टीका में 'पञ्चदशी' को इन दोनों महात्माओं की रचना मानी है। इसी प्रकार कुछ लोगों की सम्मति में वेदान्त सूत्रों पर लिखी गई 'वैयासिकन्यायमाला' भी इन दोनों की सम्मिलित रचना है, परन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है। अतएव माधव का भारतीतीर्थ मुनि के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन नितान्त उचित है। श्रीभारतीतीर्थ की निम्नलिखित स्वतन्त्र रचनाएं मानी जाती हैं—(१) 'दृग्दृश्यविवेक'—इसका दूसरा नाम 'वाक्यसुधा' ही विशेष प्रसिद्ध है। इसकी दो टीकाएं उपलब्ध है—ग्रन्थकार के शिष्य श्रीमद् ब्रह्मानन्द भारती रचित और आनन्दज्ञान या आनन्दगिरि रचित। दोनों टीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। पहली विद्याविलास प्रेस काशी से और दूसरी पण्डित दुर्गाचरण चट्टोपाध्याय कृत विस्तृत बंगला अनुवाद के साथ काशी से। श्रीदुर्गाचरण जी का यह अनुवाद ब्रह्मानन्द भारती की टीका ही का है, परन्तु है बड़ा पाण्डित्यपूर्ण। यह भी काशी से ही रत्नपिटक ग्रन्थावली में प्रकाशित हुआ है। नाम के अनुसार ही इस छोटेसे ग्रन्थ में दृग्=आत्मा और दृश्य जगत् का बड़ा ही मार्मिक विवेचन है।

(२) 'वैयासिकन्यायमाला'—'ब्रह्मसूत्र' के समस्त अधिकरणों का सारांश इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में उपस्थित किया गया है। साधारणतः दो श्लोक प्रत्येक अधिकरण के लिए रखे गये हैं। पहले में है पूर्वपक्ष का उत्थापन और दूसरे में सिद्धान्त का निरूपण। इसी ग्रन्थ के आदर्श पर जान पड़ता है माधव ने 'जैमिनीय-न्यायमाला' की रचना की। कुछ टीकाकार इस 'वैयासिकन्यायमाला' में भी माधव को कारण मानकर इसे गुरु-शिष्य की सम्मिलित रचना मानते हैं। इसका एक शुद्ध संस्करण 'आनन्दाश्रम' पूना से प्रकाशित हुआ है।

श्रीकण्ठ

सायण के अन्तिम गुरु का नाम आचार्य श्रीकण्ठ था। इनका उल्लेख काञ्ची के शिलालेख में 'श्रीकण्ठनाथो गुरुः' कह कर किया गया है, अतः इन्हें सायण के गुरु होने में तनिक भी सन्देह नहीं। माधवाचार्य ने 'काल-निर्णय' में 'हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम्' लिखकर इनके प्रति अपने श्रद्धाभाव को साधुरूप में दिखलाया है। भोगनाथ कवि भी अपने ज्येष्ठ भ्राताओं की भाँति इनके शिष्य थे, इसका पता हमें उनके 'महागणपतिस्तव' से चलता है। श्रीकण्ठ को अपना प्रधान गुरु अभिव्यक्त करते हुए भोगनाथ ने लिखा है—

"मन्दारश्च तरुः परेऽपि तरवो मेरुश्च शैलः परे
ऽप्याःशैलाः कमलागृहस्थशयनं चाब्धिः परेप्यऽधयः।
श्रीकण्ठश्च गुरुः परेऽपि गुरवो लोकत्रयेऽप्यद्भुतं
भक्ताधीन भवाँश्च दैवतमहो सर्वेऽप्यमी देवताः॥"

इन तीनों उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीकण्ठनाथ तीनों भाइयों के गुरु थे। इतना ही नहीं, ये महाराज सङ्गम (द्वितीय) के भी गुरु थे तथा उन्हें सदा आध्यात्मिक मार्ग की शिक्षा दिया करते थे। सङ्गम की भी श्रीकण्ठनाथ पर असीम भक्ति थी। बिट्रगुण्ट प्रशस्ति में उल्लिखित अग्रहार का दान इन्हीं श्रीकण्ठनाथ की इच्छा से सङ्गम ने किया था। इस शिलालेख[1]

---

[1] स कदाचित् प्रियं शिष्यं सङ्गमेन्द्रमुपस्थितम्।
न्यदिशत् देशिको दृष्ट्वा निर्भरप्रेमगर्भया॥
अग्रहारं कमप्यत्र त्वया दापयितुं मम।
प्रीतिरस्ति ततः कश्चित् ग्रामो राजन् प्रदीयताम्॥

से पता चलता है कि आचार्य श्रीकण्ठ ने एक समय उनकी सेवा में उपस्थित अपने प्रिय शिष्य सङ्गमभूपाल से कहा कि "राजन्! तुम्हारे हाथ से किसी अग्रहार को दिलाने की मेरी बड़ी इच्छा है। अतः किसी गाँव को ब्राह्मणों को दे डालो।" गुरु की इस आज्ञा को राजा ने नतमस्तक हो कर स्वीकार किया तथा उनकी इच्छा के अनुसार तीस ब्राह्मणों को एक बड़ा बिट्रगुण्ट गाँव अग्रहार दे दिया और गुरु की पुण्यस्मृति सतत बनाये रखने के लिए राजा ने उस ग्राम का नाम 'श्रीकण्ठपुर' रख दिया।

'श्रीकण्ठनाथ' नाम से भी पता चलता है कि ये नाथपन्थी महात्मा थे। भोगनाथ ने इन्हें अपने प्रिय शिष्य सङ्गम को अध्यात्म का उपदेश देने-वाले करुणावतार शङ्कर का साक्षात् प्रतिनिधि कहा है[1]। ये उस समय के एक अतीव प्रख्यात माहेश्वर तत्त्वों के व्याख्याता शैवपति प्रतीत होते हैं। जब ये माहेश्वर तत्त्वों का उपदेश देते थे, तब मालूम पड़ता था कि किसी प्राचीन नाथ महात्मा की आत्मा श्रीकण्ठ के रूप में बोल रही है[2]। भोग-नाथ का तो यहाँ तक कहना है कि "इनके पादपङ्कजों के प्रणाम करने से ही मुक्ति सहचरी की तरह समीप में ही निवास करती है। जो लोग मुक्ति के पाने की अभिलाषा से तपस्या करते हैं वे बेचारे तो केवल अपने शरीर को सुखा रहे हैं। सुभग तथा सरल उपाय के रहते तपस्या करना केवल कायशोषण

इति तस्य गुरोराज्ञामीशिता धरणीभृताम्।
अग्रहीदञ्जलिं ग्रथ्नन् अवनम्रेण मौलिना ॥
बिट्टरगुन्टमितीह प्रथितापरनामशालिनस्तस्य।
प्रकटयति स्म यमीन्द्रप्रायः श्रीकण्ठपुरमिति प्रख्याम् ॥
(इप्रि० इन्डिका भाग ३, पृष्ठ २६–२७)।

[1] इत्थं सर्वगुणोपरञ्जककलामीदृग्विधामेयुषः
तस्य क्षोणिपतेरपारयशसस्त त्वोपदेशक्रियाम्।
कर्तुं कामपि वासनामुपनयन् कारुण्यवारांनिधिः
श्रीमान् सन्निधिमादधत् पशुपतिः श्रीकण्ठनाथात्मना ॥

[2] माहेश्वराणां तत्त्वानां मान्ये यस्मिन् प्रदर्शके।
प्राचामदर्शि नाथानां प्रायेण नवता भुवि ॥

नहीं तो और क्या है ?[1] । उनके कटाक्ष मुक्ति के द्वार खोलने के लिए कुंजी के समान हैं[2] ।" इनके प्रति इन पवित्र भावों से हम समझ सकते हैं कि ये कितने बड़े आध्यात्मशास्त्रवेत्ता थे, सिद्ध थे, महात्मा थे तथा राजदरबार में भी इनकी कितनी प्रचुर ख्याति थी । संक्षेप में, ये तीनों गुरु अपने समय के सिद्ध पुरुष थे ।

---

[1] यत्पादानतिमात्रेण यतीनां मुक्तिरन्तिके ।
क्रियते तपसा किन्तु केवलं कायशोषणम् ॥

[2] कैवल्यपदवीद्वारकपाटोद्घाटकर्मणि ।
कटाक्षाः कुञ्जिका यस्य कांक्षतां तत्र निर्वृतिम् ॥

षष्ठ परिच्छेद

सायणाचार्य का जीवन चरित

सायणाचार्य के गुरुओं के संक्षिप्त वर्णन के अनन्तर उनके जीवन की घटनाओं का सुसम्बद्ध वर्णन नितान्त आवश्यक है। इस कार्य के साधन इतने स्वल्प हैं कि लेखक को इसकी सत्यता जाँचने के लिए पद पद पर उलझन में पड़ना पड़ता है। सायण के ग्रन्थों में तथा विजयनगर के प्राथमिक भूपालों के शासन-पत्रों में उपलब्ध साधन का यहाँ उपयोग सावधानता से किया जा रहा है। सायण के जीवन की घटनाओं का तिथिक्रम से यहाँ निर्देश किया जा रहा है और लेखक का यह विश्वास है कि अब तक किसी लेखक ने भी इस कार्य को इस ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। डाक्टर औफ्रेक्ट के लेखानुसार सायण की मृत्यु विक्रम संवत् १४४४ (ईस्वी सन् १३८७) में हुई[1]। उनकी अवस्था उस समय ७२ (बहत्तर) साल की थी। अतः सायणाचार्य का जन्म वि० सं० १३७२ (ई० स० १३१५) में हुआ। धन्य हैं इनके जनक मायण और धन्य हैं इनकी जननी श्रीमती, जिनके घर वेदार्थसंस्थापक हिन्दूधर्मोद्धारक सायणाचार्य का जन्म हुआ। इससे लगभग १५ वर्ष पहले इनके ज्येष्ठ भ्राता माधव विद्यारण्य का जन्म वि० सं० १३५७ (ई० स० १३००) में हो चुका था। सायण अपने माता-पिता के दूसरे पुत्र थे। इनके माता-पिता साधारण स्थिति के ब्राह्मण गृहस्थ थे। अतः इनका बाल्यकाल विशेष समृद्धि तथा सौख्य में बीता होगा, इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। इतना तो हमें बाध्य होकर कहना पड़ेगा कि बचपन में इनको बहुत ही अच्छी शिक्षा दी गई होगी। बिना व्याकरण ज्ञान के संस्कृत भाषा तथा साहित्य के विशाल दुर्ग में प्रवेश करना एक प्रकार से असम्भव ही है। अतः पाणिनीय व्याकरण की सुचारु शिक्षा इन्हें दी गयी थी। तभी तो आगे चलकर इन्होंने 'माधवीया धातुवृत्ति' की रचना कर व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए एक प्रामाणिक ग्रन्थरत्न प्रस्तुत कर दिया। व्याकरण के शास्त्र

---

[1] कैटेलोगस कैटेलोगोरुम (बृहत्सूची) पृ० ७११।

में इनका कितना प्रगाढ़ पाण्डित्य था, इसका पता उन पाठकों को सहज में लग सकता है जो 'ऋग्वेद' के प्रथम अष्टक के भाष्य की परीक्षा करने का कष्ट उठायेंगे। सायण ने प्रथमाष्टक के विस्तृत भाष्य में एक एक वैदिक पद की सिद्धि इतने अच्छे तथा व्यवस्थित ढंग से दिखलायी है कि सायण के महावैयाकरण होने में रंचकमात्र भी संशय नहीं रहता। व्याकरण के बाद मीमांसा में भी इनको विशेष प्रवीणता प्राप्त थी। अतः बाल्यकाल में इन्होंने मीमांसा का सुव्यवस्थित अध्ययन किया होगा। इनके जेठे भाई माधव मीमांसा के एक प्रकार से आचार्य ही माने जाते हैं। बहुत सम्भव है कि सायण ने माधव से ही यह आवश्यक विषय पढ़ा हो। सायण की अपनी संहिता कृष्णयजुर्वेदीय 'तैत्तिरीय संहिता' है। अतः इस संहिता का भी अध्ययन तथा मनन इन्होंने विशेष मनोयोग पूर्वक अवश्य किया होगा। इनके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के अन्य विभागों में भी इन्होंने अभिज्ञता प्राप्त की होगी। सायणाचार्य का बाल्यकाल अपने जीवन की लक्ष्यसिद्धि की तैयारी करने में बीता होगा। उनके जीवन का सर्वोत्तम कार्य है वेदभाष्य का प्रणयन। अतः इस काल में तदुपयोगी विषयों में इन्होंने अपनी अभिज्ञता प्राप्त कर ली होगी। इनके आरम्भिक जीवन के विषय में हम वर्तमान गवेषणा के आधार पर इससे अधिक नहीं कह सकते।

कम्पण के मन्त्री

सायणाचार्य के जीवन की जवनिका जब उठती है, तब हम उन्हें ३१ वर्ष की उम्र में राज्यप्रबन्धक मन्त्री के रूप में पाते हैं। इससे पहले सायण के आरम्भिक तीस वर्षों का वृत्त अभी तक अन्धकार के पर्दे में छिपा हुआ है; वि० सं० १४०३ (सन् १३४६) में एकतीस साल की उम्र में सायणाचार्य हरिहर के अनुज कम्पण के राज्य के मन्त्री थे। इस वर्ष के नेल्लोर जिले के 'कोडवलूरु' स्थान से मिले हुए शिलालेख[1] से सायण के ओडयलु 'कम्पणाति ओडयर' (प्रसिद्ध नाम कम्पणभूपाल) के महा प्रधान (प्रधान मन्त्री) होने का पता चलता है। उसी स्थान से बिना तिथि का एक और शिलालेख मिला है जिसे पोद्दरासु नामक किसी व्यक्ति ने सायण ओडयलु के आज्ञानुसार

---

[1] एपिग्राफिका कर्नाटिका भा० ६ पृ० १०४।

उत्कीर्ण किया था[1]। इन शिलालेखों के 'सायण ओडयलु' हमारे चरित-नायक सायणाचार्य ही हैं। 'सुभाषित सुधानिधि' की पुष्पिका में सायण ने अपने को "पूर्व पश्चिम समुद्राधीश्वर श्री कम्पराज-महाप्रधान" लिखा है[2]। पूर्वोक्त शिलालेख तथा इस ग्रन्थ के आधार पर ही हमने सायण को हरिहर के अनुज कम्पराज का प्रधान मन्त्री माना है। सायण नौ वर्ष तक कम्पण के महामन्त्री रहे। सम्भवतः १२७७ शक सं० (१३५५ ईस्वी) में कम्पण की मृत्यु हो गयी[3]। अतः वि० सं० १४०३ से लेकर १४१२ तक (१३४६ से १३५५ ई० तक) अर्थात् जब तक कम्पण ने विजयनगर के पूर्वी प्रदेशों पर शासन किया, तब तक इन्होंने पूरे नौ वर्ष तक शासन की बागडोर अपने हाथ में रखी।

संगम के शिक्षक

वि० सं० १४१२ (ई० स० १३५५) में जब कम्पण नरेश ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की, तब उनके एकमात्र पुत्र संगम (द्वितीय) अभी तक निरे बालक थे। सायण साम्राज्य के प्रधान मन्त्री थे, अतः कम्पण ने अपने सन्तान तथा साम्राज्य दोनों के निरीक्षण का भार अपने कुशल मन्त्री के समर्थ हाथों में छोड़कर बड़ा ही नीतियुक्त कार्य किया, क्योंकि प्रधान मन्त्री से बढ़कर इस कार्य को सम्पन्न करने की उपयुक्तता ही किसमें हो सकती थी ? मन्त्री महोदय ने भी जिस खूबी से, जिस तत्परता से, इस कार्य को अपनी शक्तिभर निबाहा, वह भी देखने ही लायक है। राजनीति-कुशल आचार्य सायण ने बालक संगम को अपनी देख-रेख में रखा तथा भावी राजा के लिए उपयोगिनी समस्त विद्याएं इन्हें पढ़ा डालीं। अनुगत तथा श्रद्धालु शिष्य को जैसा होना चाहिए, संगम ने भी अपने शिक्षक के प्रति उसी तरह का व्यवहार किया। सायण की योग्य शिक्षा का यह प्रभाव हुआ कि संगम नरेश राजनीति के प्रयोगों में अत्यन्त प्रौढ़ बन गये। भला! जहाँ सायण जैसे विद्वान् तथा कार्य-कुशल आचार्य तथा संगम जैसे श्रद्धालु शिष्य हों, वहाँ सुशिक्षा का अमृतमय फल

---

[1]वही, पृ० ७६१।

[2]देखिये 'वेदभाष्य भूमिका संग्रह' की मेरी संस्कृत प्रस्तावना, पृ० ३।

[3]इपिग्राफिका इंडिका, भाग ३, पृ० २३।

नहीं फलता तो यह आश्चर्य की बात होती। अतः 'अलङ्कार सुधानिधि' का यह कथन नितान्त तथ्य प्रतीत होता है—

"सम्यक् शिक्षां सचिवगमितः शैशवे सायणार्य।
प्रौढ़िं गाढां प्रकटयति ते संगमेन्द्रः प्रयोगे ॥"

संगम के राज्य-प्रबन्धक

सायण ने बालक संगम को शिक्षा देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझी, बल्कि समस्त राज्य के प्रबन्ध-भार को भी इन्होंने बड़ी योग्यता से निबाहा। राजा के नाबालिग होने का समय राजनीतिक उथल-पुथल तथा आन्तरिक अशान्ति का समय हुआ करता है, परन्तु सायण ने इतनी कुशलता से शासन- प्रबन्ध किया कि राज्य में कहीं भी गड़बड़ी मचने न पायी। उनके समय में प्रजा अत्यन्त सुखी थी; चारों ओर सौख्य तथा शान्ति का साम्राज्य था, सांसारिक समस्त भोगों की प्राप्ति उन्हें उस समय थी। अतः सायणाचार्य के सुशासन की इस प्रशंसा को अतिशयोक्ति न समझ कर स्वभावोक्ति ही समझनी चाहिए—

"सत्यं मही भवति शासति सायणार्ये
सम्प्राप्तभोगसुखिनः सकलाश्च लोकाः ॥"

रण-विजयी सायण

सायण ने साम्राज्य के प्रबन्ध करने में ही अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं किया, प्रत्युत साम्राज्य के विस्तार करने में भी अपना ध्यान लगाया। राज्य के ऊपर आक्रमण करनेवालों को ही सायण ने ध्वस्त नहीं किया बल्कि राज्य के विस्तार-कार्य के लिए उन्होंने समीपवर्ती राजाओं के ऊपर आक्रमण भी किया। सायण ने अपने उम्र के ४० वें वर्ष में सङ्गम के राज्य प्रबन्धकार्य को अपने हाथ में लिया और लगभग आठ वर्षों तक यह कार्य निरन्तर उत्साह से निबाहा। अतः राज्य के विस्तार के लिए उन्होंने जब संग्रामों में शत्रुओं को परास्त किया, तब उनकी अवस्था पैंतालीस वर्ष की अवश्य होगी। आज-कल इस उम्र के पुरुष तो अपने को वृद्ध समझने लगते हैं तथा परलोक के चिन्तन में अपने समय को बिताने में अपना अहोभाग्य समझते हैं, परन्तु पैंतालीस वर्ष के सायण के हृदय में वीरता का स्फुरण हो रहा था, उनकी नस नस में गरम रुधिर का संचार हो रहा था, संग्राम में शत्रुओं को परास्त

करने की शुभेच्छा उनके हृदय में हिलोरें मार रही थी। अतः सायणाचार्य ने इस उम्र में वह वीर कार्य कर दिखलाया जो युवकों के ईर्ष्या का पात्र हो सकता है। अलङ्कार सुधानिधि का कहना है[1] कि जब जगद्वीर प्रभुवर सायण के हाथ में कृपाण जग रहा है, तब शत्रु लोग वृथा गर्व दिखलाकर गर्जन क्यों कर रहे हैं? बेचारे क्या जाने कि यह चमकती तलवार उनके हृदय का खून बिना पीये न रुकेगी।

'अलङ्कार सुधानिधि' के निम्नलिखित पद्यों में भी सायण की युद्ध-कुशलता का वर्णन किया गया है—

"समरे सपत्नसैन्यं सायण! तव बिम्बितं वहन् खङ्गः।
क्रीडति कैटभरिपुरिव बिभ्रत् क्रोडे जगत्त्रयं जलधौ॥"

+ + +

अमुं शमित-शात्रवस्थिरभुजावलेपोदयं
समीक्ष्य युधि सायणं समधिको भवेद् विस्मयः।
नखाग्रहतवैरिणो नरहरे र्हरस्याथवा
नवाम्बुजदलोल्लसन्नयनमात्रदग्धद्विषः॥"

सायण की विस्मयकारिणी रणचातुरी का सुभग परिणाम भी सद्यः देखने में आया। चम्प नामक राजा को, जिसे विशेष सम्पत्ति ने अपना कृपा-पात्र बनाया था, जीतकर सायणाचार्य ने अतुल कीर्ति पैदा की[2]। यह चम्प नरेन्द्र चोल देश का राजा था; विरिञ्चिपुरम् इसकी राजधानी थी, तथा काञ्ची के आसपास के प्रदेश पर वह शासन करता था। कृष्ण स्वामी[3] का कहना है कि इस चम्पराय का असली नाम 'शम्भुवराय' था। सायण के द्वारा परास्त किये जाने पर भी वह उसी स्थान पर बना रहा। कुछ समय पीछे बुक्क प्रथम के पुत्र कुमार कम्पण ने अपने सेनापतियों के साथ इसी शम्भुवराय के

---

[1] "जगद्वीरस्य जागर्ति कृपाणः सायणप्रभोः।
किमित्येते वृथाटोपा गर्जन्ति परिपन्थिनः॥"

[2] दिष्ट्या दैष्टिकभाव-संभृतमहा-सम्पद्विशेषोदयं
जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः।
—अलं० सुधा०।

[3] सोर्सेज़ आफ विजयनगर हिस्ट्री, पृ० २९

साथ लड़ाई लड़ी थी। 'मधुराविजय' में कुमार कम्पण की इस विजयवार्ता को गङ्गादेवी ने बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है। इतना ही नहीं, सायण ने सङ्गम नरेश के साथ 'गरुड़नगर' नामक स्थान के राजा के ऊपर आक्रमण किया तथा उसे परास्त कर अपने वश में किया, इसका उल्लेख एक शिलालेख में किया गया मिलता है।

इन सब वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सायणाचार्य केवल प्रतिभाशाली विद्वान् होने के अतिरिक्त सुयोग्य शासक थे। साथ ही साथ एक रणकार्य-कुशल वीर विजेता भी थे। इतने विभिन्न गुणों का एक व्यक्ति-विशेष में रहना कम आश्चर्यजनक नहीं है। सायण ने संगम भूपाल का मन्त्रित्व लगभग आठ वर्षों वि० सं० १४१२ से लेकर वि० सं० १४२० (१३५५—१३६३ ई०) तक अनेक युद्धों में भाग लेते तथा अनेक उपयोगी पुस्तकों की रचना करते हुए बड़ी योग्यता के साथ किया।

बुक्क प्रथम का मंत्रित्व

वि० सं० १४२१ (१३६४ ई०) का एक शिलालेख नल्लूर शहर से मिला[1] है जिसमें लिखा है कि 'श्रीमान् महामण्डलेश्वर वीर श्री सावणण (सायणा) ओडयलु ने पृथ्वी पर शासन किया'। इस शिलालेख में सङ्गम भूपाल का नाम उल्लिखित नहीं है जिससे प्रोफेसर हेरास ने यह परिणाम निकाला है[2] कि सङ्गम उस समय राज्य प्रबन्ध के कार्य से पृथक् से हो गया था। अतः सायणाचार्य बुक्क नरेश की अधीनता में ही नल्लूर प्रान्त का शासन वि० सं० १४२१ में कर रहे थे। अतः इस वर्ष के पहले ही सायण बुक्क की अधीनता में कार्य करने लगे थे। इसके कुछ ही वर्ष बाद सायण विजयनगर राजधानी में आ गये और महाराज बुक्क के यहाँ भी मन्त्रिपद पर अधिष्ठित हो गये। इस समय सायण की अवस्था लगभग ४८ वर्ष की थी। बुक्क के यहाँ सायण ने लगभग १६ वर्षों तक वि० सं० १४२१ से लेकर १४३७ तक (१३६४ ई०—१३८० ई०) मन्त्री के उत्तरदायी कार्य को सुचारु रूप से किया, सायण के जीवन का यही काल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी मन्त्रित्व के समय में सायण ने वेदभाष्यों

[1] बट्टरवर्थ—इन्सक्रिपसन्स आफ नेल्लोर डिस्ट्रिक्ट भाग २, पृ० ८४७.
[2] हेरास—बिगिनिंग्स आफ विजयनगर हिस्ट्री पृ० ६८।

की रचना की। वेदभाष्य महाराज बुक्क की इच्छा तथा अनुज्ञा से बनाये गये, इसका वर्णन आगे किया जायेगा। ऋग्वेद भाष्य की पुष्पिका में इसी लिए सायण ने अपने को 'वीर बुक्क साम्राज्य धुरन्धर' लिखा है। इस प्रकार वर्षों की अधिक संख्या तथा कार्यों की महनीयता के कारण श्री सायणाचार्य के जीवन के इस काल को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

हरिहर द्वितीय का मन्त्रित्व

वि० सं० १४३८ में (१३७९ ई० में) बुक्क महाराज ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की। उसी वर्ष उनके पुत्र हरिहर राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुए। क्रमानुसार पिता की मृत्यु के बाद सायण पुत्र के राज्य के भी मन्त्री हुए। हरिहर के शासन काल में सायण अधिक दिनों तक मन्त्री न रहे। उस समय वे वृद्ध हो चले थे उनकी उम्र हरिहर के मन्त्रित्व स्वीकार करने के समय लगभग ६४ वर्षों की थी परन्तु फिर भी उनके शरीर में प्रबन्ध करने की शक्ति बनी हुई थी तथा अपने जीवन कार्य को समाप्त करने का पर्याप्त सामर्थ्य उनके उन्नत मस्तिष्क में अब भी बना हुआ था। हरिहर की आज्ञा से सायण ने अवशिष्ट वैदिक संहिता तथा ब्राह्मण का भाष्य रच कर एक प्रकार से अपने जीवन लक्ष्य को पूर्ण कर दिया। सायण केवल छः वर्षों ही तक वि० सं० १४३८—१४४४ (१३७९ से १३८५ ई०) तक हरिहर द्वितीय के अमात्य रहे। सं० १४४४ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में सायण ने हरिहर के राज्य काल में ही अपनी जीवन लीला समाप्त की। इस प्रकार वृद्धावस्था में वेदभाष्यों के प्रवीण रचयिता, राजनीति के सुयोग्य विद्वान् तथा समराङ्गण में शत्रु विनाश कारी रणरङ्गधीर सायणाचार्य ने संसार में अनुपम कीर्ति फैला कर स्वर्ग लोक को प्रस्थान किया।

सायणाचार्य के इस चरित्र का पर्यालोचन किस आलोचक को विस्मय समुद्र में न डाल देगा? कहाँ तो सतत शास्त्राभ्यास से समुत्पन्न ज्ञान परिपाक की सहचरी वैदिक तत्त्वों की मीमांसा में प्रगाढ़ प्रवीणता और कहाँ लौकिक व्यवहार के निरीक्षण से समुद्भूत विपुल राजकार्य धारण समर्थ राजनीति के ज्ञान में विस्मयोत्पादिनी चातुरी! इन दोनों का समानाधिकरण्य सायणाचार्य में पाकर किसके हृदय में विचित्र आनन्दोल्लास हुए बिना न रहेगा? सच तो यह है कि लोक तथा परलोक का—विद्वत्ता तथा लोक निपुणता का—व्यवहार

चरित्र

और परमार्थ का—एक आश्रय में सदा निवास करना लोक में नितान्त दुर्लभ हैं। परन्तु सायण में इन्हीं विरुद्ध गुणों के सहवास होने से इस महापुरुष का चारु चरित्र अलौकिकता की कोटि में पहुँचा हुआ कहा जा सकता है। सायण व्यावहारिक विषयों में जिस प्रकार चतुर थे, उसी प्रकार आध्यात्मिक विषयों में भी जागरूक थे। सायण एक असाधारण विद्वान् थे, महनीय मीमांसक थे। अतः उनका श्रुति के गूढ़ अर्थों का उद्घाटन करना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु एक कोरे पण्डित का विशाल साम्राज्य की बाग-डोर अपने हाथ में धारण करना तथा उसका अत्यन्त सुचारु रूप से संचालन करना असम्भव नहीं तो आश्चर्य जनक अवश्य है। यदि हम सायण को एक राज्य प्रबन्धक अमात्य के रूप ही में पाते तो हमें विशेष विस्मय न होता, परन्तु एक मीमांसा मांसलमति पंण्डित को—शास्त्राभ्यास में अपने जीवन को बिताने वाले विद्वान् को—व्याकरण की गुत्थियों को सुलझाने वाले वैयाकरण को—जब हम रक्तरञ्जित रण के प्राङ्गण में अपने हाथ में चमकता कृपाण चमकाते तथा प्रबल शत्रुओं के अभिमानोन्नत मस्तकों को छिन्न भिन्न कर पादावनत करते तथा अपनी अदम्य वीरता का साक्षात् दृष्टान्त प्रस्तुत करते देखते हैं तो हमारा हृदय विस्मय से भर जाता है, चित्त विचित्रता से ओत-प्रोत हो जाता है, मस्तिष्क ब्राह्मण्य के मान से उन्नत हो जाता है और सब से अधिक प्रतीत होने लगता है कि इस मध्यकालीन मीमांसक में भारत के राज्य-सिंहासन पर चन्द्रगुप्त को प्रतिष्ठित करनेवाले अमात्य कौटिल्य की ही आत्मा नहीं झाँक रही है प्रत्युत इस कलियुगी ब्राह्मण पण्डित के रूप में 'महाभारत' में अपने रणकौशल के जौहर दिखलानेवाले, रणरङ्गधीर द्रोणाचार्य की भव्य मूर्ति भी उल्लसित हो रही है। वास्तव में सायण प्राचीन पाण्डित्य के एक ऐसे आदर्श उदाहरण थे, जिसके लिए पीछे के समय में छान-बीन करने पर भी अन्य कोई सुन्दर उदाहरण सामने नहीं आता। वह एक भव्य विभूति थे, जिसकी आभा इन साढ़े पाँच सौ वर्षों के दीर्घ काल के अनन्तर भी उसी प्रकार से चमक रही है तथा अभी तक फीकी नहीं हुई। अतएव सायण के चरित्र की विशालता तथा गुणगरिमा से चमत्कृत आलोचकों को काञ्ची के शिलालेख की निम्नलिखित भावमयी पंक्तियों को बलात्कार दुहराना पड़ता है—

"भारद्वाजकुलेश सायण ! गुणैस्त्वत्तस्त्वमेवाधिकः।"

धन्य हैं सायणाचार्य ! और धन्य है उनका विचित्र चरित्र !!

सप्तम परिच्छेद

सायण के वेदभाष्य से इतर ग्रन्थ

सायणाचार्य जैसे व्यवहार कुशल विद्वान् का जीवनक्षेत्र सीमाबद्ध न था, एक ही दिशा में उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को अग्रसर नहीं किया। जिस प्रकार उनकी कार्यसीमा विपुल तथा विस्तृत थी, उसी प्रकार उनकी विद्वत्ता भी 'चतुरस्र' थी; सर्वाङ्गीण थी। वेदों के गूढ़ परिचय से लेकर, पुराणों के व्यापक पाण्डित्य तक, अलङ्कार सरणि के विवेचन से लेकर, पाणिनि व्याकरण की आदरणीय अभिज्ञता तक, यज्ञतन्त्र के अन्तः परिचय से लेकर वैद्यक जैसे उपयोगी शास्त्र के व्यवहारिक ज्ञान तक सर्वत्र सायणाचार्य का प्रकृष्ट पाण्डित्य साधारण जनों के भी उपकार का कारण तथा प्रतिभाशाली विद्वानों के भी विस्मयपूर्ण आदर का पात्र बना हुआ है। संस्कृत साहित्य के प्रायः माननीय अनेक विभाग में सायणाचार्य ने अपनी रमणीय रचनाओं से स्तुत्य कार्य किया, परन्तु इनके साहित्यिक जीवन का चूड़ान्त महत्त्व इनकी वेद भाष्यों की निर्मिति है। सायण ने लगभग तीस वर्ष की अवस्था से लेकर अपने जीवन के अन्तिम वर्ष तक लगातार अटूट परिश्रम तथा अदम्य उत्साह से ग्रन्थों की रचना की।

सायण अमात्य पद पर अधिष्ठित होने तथा प्रधान मन्त्री के गुरुतर कार्य के सँभालने में लगे रहने पर भी पुस्तक प्रणयन के कार्य से कभी भी उदासीन नहीं थे। उनका ध्यान उपयोगी ग्रन्थों के निर्माण की ओर सर्वदा आकृष्ट रहता था। सायण के जितने भी ग्रन्थों की उपलब्धि इस समय हो रही है, उन सब की रचना मन्त्रित्व काल में ही हुई। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि या तो मन्त्रीकाल के पूर्व के ग्रन्थ प्राप्त ही नहीं है अथवा इन्होंने उस काल में किसी ग्रन्थ की रचना ही नहीं की। जो कुछ भी हो, आजकल उपलब्ध सायण के ग्रन्थों का उनके मन्त्रित्व-काल से गहरा सम्बन्ध है। अतः लेखक का अनुमान है कि अपने आश्रयदाता नरेश के प्रोत्साहन का ही यह परिणाम प्रतीत होता है कि विपुल राजकीय कार्यों में व्यग्र रहने पर भी सायण ने अपने आश्रय प्रदाता के सन्तोषार्थ तथा साधारण

जनता के उपकारार्थ इन सुन्दर उपयोगी ग्रन्थों की रचना की। इसके लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण भी है कि बुक्क भूपाल की आज्ञा पाकर ही सायण ने वेद भाष्यों को रचा। अतः इन ग्रन्थों की रचना में राजा की आज्ञा तथा इच्छा ही विशेष महत्त्व की मानी जा सकती है। जिस प्रकार से हो, सायणाचार्य ने इन ग्रन्थों की रचना से संस्कृत साहित्य के रसिकों के ऊपर जो अनुग्रह किया है, जो महती कृपा दिखलाई है वह वास्तव में नितान्त श्लाघनीय है। साधारण संस्कृतज्ञ सायण को केवल वेदभाष्यों के रचयिता के ही रूप में जानता है—और ऐसा मानना तथा जानना अत्यन्त उपयुक्त भी है—परन्तु फिर भी सायण ने केवल इन्हीं ग्रन्थों की रचना नहीं की है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने सायण के नाम से भिन्न-भिन्न पुस्तक सूचियों में उल्लिखित पचासों ग्रन्थों का कर्तृत्व सायण के सिर पर मढ़ा है। परन्तु इन ग्रन्थों की परीक्षा से प्रतीत होता है कि किसी साधारण पंडित ने इनकी रचना स्वयं करके सायण के नाम से इन्हें व्यवहृत कर दिया। उन्होंने वेदभाष्यों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य के विभिन्न भागों से सम्बद्ध सात ग्रन्थों की रचना की है जो अकेले भी इनकी कीर्तिकौमुदी को विद्योतित करने में सर्वथा पर्याप्त हैं।

यहाँ इन ग्रन्थों का यथासम्भव तिथिक्रम से वर्णन किया जावेगा।

(१) सुभाषित-सुधानिधि

सायणाचार्य ने वेदभाष्यों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों के नामकरण में समानता रखी है। उन्हें सुधानिधि शब्द बड़ा प्यारा लगता सा जान पड़ता है। अतः अपने ग्रन्थों को सुधानिधि नाम से अभिहित किया है। सायण के प्रथम आश्रयदाता कम्पण (१३४०-१३५४ ई०) के राज्यकाल में इस ग्रन्थ की रचना हुई थी थी[१]। अतः यह उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। पुरुषार्थ चतुष्टय को सामने रख कर इसे चार पर्वों में बाँटा है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सायण ने आगे चलकर पुरुषार्थ सुधानिधि नामक एक

---

[१]भरद्वाजान्वयभुजा तेन सायणमन्त्रिणा।
व्यरच्यत विशिष्टार्थः सुभाषितसुधानिधिः॥

इति पूर्व पश्चिम समुद्राधीश्वराराराय विभाल श्रीकम्पराज महाप्रधान भरद्वाजवंश मौक्तिक-मायणरत्नाकर सुधाकर-माधव कल्पतरु-सहोदर-श्री सायणार्य विरचिते सुभाषितसुधानिधौ।

अन्य ग्रन्थ की भी रचना की थी, परन्तु इन दोनों में स्पष्ट पार्थक्य है। पुरुषार्थ सुधानिधि में केवल वेदव्यास के ही तत्तद्विषयक श्लोक महाभारत तथा पुराणों से संगृहीत किये गये हैं, परन्तु इस सुभाषित सुधानिधि में अन्य कवियों के पद्यों का संग्रह है। विषय एक ही है।

धर्म पर्व में ३४ पद्धतियाँ तथा २०३ श्लोक हैं; अर्थ पर्व में १३७ पद्धति और ६३७ श्लोक; कामपर्व में ५२ पद्धति और २१५ श्लोक। मोक्ष पर्व में १६ पद्धति और ६३ श्लोक। इस प्रकार इस पूरे ग्रन्थ में २२६ पद्धति तथा ११०८ श्लोक हैं। ग्रन्थ काफी बड़ा है। इसमें अर्थपर्व अपेक्षाकृत सबों से बड़ा है। राजमन्त्री होने के कारण सायण का अर्थ विषय की ओर अभिरुचि होना स्वाभाविक ही है। इस समय सायण तीस या बत्तीस वर्षों के होंगे, ऐसा अनुमानतः सिद्ध है।

इस ग्रन्थ की महत्ता के विषय में दो विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि यह ग्रन्थ शार्ङ्गधर पद्धति (रचना काल १३६३ ई०) से पुराना है। अतः इसमें उससे भी प्राचीन कविजनों की चुनी कविताओं का संग्रह है। परन्तु श्लोकों के पीछे उनके कर्ताओं के नाम न देने से इसमें कुछ त्रुटि सी आ गई है। दूसरा इसका महत्त्व ऐतिहासिक है। अर्थ-पर्व में एक लम्बा अंश है जिसका नाम 'राज चाटुपद्धति' है। इसमें तत्कालीन विजयनगर के शासकों के विषय में अनेक पद्य संगृहीत हैं। अतः इनकी सहायता से उन राजाओं के विषय में ऐतिहासिक तथ्य का पता चल सकता है। इस प्रकार ग्रन्थ की उपादेयता सर्वथा माननीय है, परन्तु दुःख की बात है कि यह ग्रन्थ अभी तक छपा नहीं है। मद्रास के सरस्वती भण्डार लाइब्रेरी में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है[1]।

इससे कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

मेरुः स्थितोऽपि दूरे मनुष्यभूमिं धिया परित्यज्य।
भीतोऽवश्यं चौर्यात् चोराणां हेमकाराणाम्॥

+ + +

---

[1] सातवें (बड़ोदा) ओरियन्टल कानफ़रेन्स की लेखमाला पृ० १२१—१२४।

अनुयातोऽनेकजनैः परपुरुषधृतः सुवर्णशकलयुतः ।
अधिकारस्थः शव इव न वदति न शृणोति नेक्षते किञ्चित् ॥

\+ \+ \+

त्यागं भोगं च विना सत्तामात्रेण यदि धनिनः ।
वयमपि किमपि न धनिनस्तिष्ठति नः काञ्चनो मेरुः ॥

(२) प्रायश्चित्त-सुधानिधि

यह सायण की दूसरी रचना प्रतीत होती है। इसका दूसरा नाम 'कर्मविपाक' भी है। हिन्दू धर्मशास्त्रों के प्रधान तीन विषय हुआ करते हैं—आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित्त। इसमें प्रायश्चित्त का विषय भी बड़े महत्त्व का माना जाता है। इसी उपयोगी विषय का विवेचन इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। इस ग्रन्थ की रचना कर सायण ने धर्मशास्त्र में अपनी प्रवीणता ही नहीं दिखलाई है, प्रत्युत धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों का भी विशेष उपकार किया है। सङ्गमभूपाल के मन्त्रीकाल में सायण ने जिन चार ग्रन्थों को बनाया उनमें यह ग्रन्थ प्रथम प्रतीत हो रहा है। उस समय सायण की उम्र लगभग चालीस की थी।

(३) आयुर्वेद-सुधानिधि

इस ग्रन्थ में सायण ने आयुर्वेद के रहस्यों का प्रकटीकरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान धर्मशास्त्र के साथ साथ आयुर्वेद जैसे सर्वोपकारक व्यावहारिक शास्त्र की ओर भी गया था। सायण की सर्वाङ्गीण विद्वत्ता तथा अनुपम लोकोपकार बुद्धि का यह श्रेष्ठ उदाहरण है। इसका उल्लेख सायण ने अपने अलङ्कार-सुधानिधि में किया है[1] जिससे इसका रचनाकाल इसके पहले अनुमान सिद्ध है। 'श्रीशैलनाथ' नामक पण्डित ने अपने 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' नामक वैद्यक ग्रन्थ में लिखा है कि उनके पितामह 'एकाम्रनाथ' ने सायण मन्त्री की प्रेरणा से 'आयुर्वेद सुधानिधि' का संग्रह किया :—

एकाम्रनाथो यत्तातः सायणामात्यचोदितः ।
समग्रहीत् सुबोधार्थमायुर्वेदसुधानिधिम् ॥

---

[1] आयुर्वेद सुधानिधि व्यसनिभिः श्रीसायणार्योदितं भैषज्यम्—इण्डियन एण्टिक्वेरी (१९१६) के पृष्ठ २२ पर उद्धृत।

(४) अलङ्कार-सुधानिधि

सायण ने इस ग्रन्थ में संस्कृत के समस्त अलङ्कारों का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की रचना से सायण अलङ्कार शास्त्र के भी पण्डित प्रतीत होते हैं। इसका प्रचुर प्रचार दक्षिण भारत में अवश्य था क्योंकि दक्षिण के सुप्रसिद्ध विद्वान् अप्पय दीक्षित ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ (चित्रमीमांसा) में इसका निर्देश किया है। यह अपने ढंग का एक अनूठा ग्रन्थ प्रतीत होता है। यदि एक ही ग्रन्थकार ने किसी अलङ्कार ग्रन्थ की कारिका तथा उदाहरण को स्वयं लिखा है, तो ऐसा प्रायः हुआ करता है कि वह अलंकारों के उदाहरण अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में बनाता है। दृष्टान्त के लिए कतिपय आलंकारिकों का यहाँ उल्लेख किया जायगा। विद्याधर ने अपनी 'एकावली' के उदाहरणों में अपने आश्रयदाता, उड़ीसा के राजा नरसिंहकी प्रशस्त स्तुति की है। विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' में वारङ्गल के काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव के प्रशंसात्मक श्लोकों को सर्वत्र उदाहरण के रूप में दिया है। रूपक के लक्षणों के उदाहरण देने के लिए विद्यानाथ ने प्रतापरुद्र के विषय में एक नवीन रूपक की ही रचना कर इसमे सम्मिलित कर दिया है। इसी प्रकार 'अभिनव कालिदास' उपधिधारी नृसिंह कवि ने अपने 'नञ्जराजयशोभूषण' में महीसूरके वीरभूपालके पुत्र, अपने आश्रयदाता नञ्जराज की स्तुति में ही उदाहरण दिए हैं। आलंकारिकों की प्रायः यही क्षुण्ण पद्धति है, परन्तु सायण ने इस ग्रन्थ में एक विचित्र मार्ग की उद्भावना की है। इसमें जितने उदाहरण दिये गए हैं, उनमें से अधिकांश ग्रन्थकार के जीवन चरित से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसकी यह विशेषता इसे इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों से सर्वथा पृथक् करती है। ये उदाहरण सायण के जीवन वृत्त के समझने में बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनकी सहायता से हम केवल सायण के ही जीवन की विशिष्ट घटनाओं से भली भाँति परिचित नहीं हो जाते, प्रत्युत उनके कुटुम्ब के आश्रयदाता आदि के विषय में भी अनेक ज्ञातव्य विषयों से अभिज्ञ बन जाते हैं। इस ग्रन्थ का उल्लेख सायणीय वृत्त लिखने में किया गया है। दुःख की बात इतनी है कि यह ग्रन्थ रत्न अधूरा ही है[1] यदि

---

[1] इस ग्रन्थ के पता लगाने वाले महामहोपाध्याय आर नरसिंहाचार्य महोदय ने लेखक को अपने पत्र में सूचित किया है कि विशेष खोज करने पर

यह कहीं पूरा मिलता तो सायणीय वृत्त की पर्याप्त अभिज्ञता हमें प्राप्त होती। अस्तु; इस ग्रन्थ का जितना भी अंश इस समय उपलब्ध हुआ है वह भी अत्यन्त महत्त्व का है। इस ग्रन्थ का उपयोग इस पुस्तक में आवश्यकतानुसार प्रचुरमात्रा में किया गया है।

(५) धातुवृत्ति

वैयाकरणों में यह वृत्ति माधवीया धातुवृत्ति के नामसे प्रसिद्ध है,परन्तु रचना इसकी सायण ने ही की। उन्होंने प्रत्येक गणकी पुष्पिका में अपने नाम का स्पष्टतः उल्लेख किया है[1] तथा ग्रन्थारम्भ में भी सायण विरचित होने पर भी 'माधवीया' नाम से व्यवहृत किया है[2]। अतः सायण के कर्तृत्व की छाप इस पर सप्रमाण सिद्ध होती है।

यह ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ की विस्तृत तथा अतीव प्रामाणिक टीका है। इसमें ग्रन्थकार ने हेलाराज, भट्टभास्कर, क्षीरस्वामी, शाकटायन, पतञ्जलि, भागुरि, कैयट, हरदत्त, जयादित्य आदि आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों के मतों का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। इसमें धातुकी व्याख्या में केवल तिङन्त रूप ही प्रदर्शित नहीं किये गये हैं प्रत्युत उसके निष्पन्न कृदन्त रूपों का भी सप्रमाण उल्लेख हैं। उसमें किसी प्रकार की व्याकरणसम्बन्धी विशेषता होने पर उसका भी वर्णन प्रमाण के साथ किया गया है। उदाहरणार्थ 'वर्षाभू' शब्द को लीजिये। साधारणतः यह शब्द पुनर्नवा ओषधिके लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु सायण ने क्षीरस्वामी, सुभूतिचन्द्र तथा भागुरि के प्रमाणवाक्यों का उल्लेख कर बतलाया है कि ह्रस्व उकारान्त 'वर्षाभु' का प्रयोग मेढ़क के लिये होता है और इसलिये उसके स्त्री को 'वर्षाभ्वी' कहते हैं। इतना ही नहीं, वैजयन्ती कोश के कर्ता यादव प्रकाश ने तो ऊकारान्त

भी यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिल सका। यह अधूरी प्रति इस समय मैसूर की राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

[1] इति पूर्व दक्षिण पश्चिम समुद्राधीश्वर कम्पराजसुत-संगमराज महामन्त्रिणा मायणपुत्रेण माधवसोदरेण सायणेन विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ शब्बिकरणा भ्वादयः।

[2] तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
आख्यया माधवीयेयं धातु-वृत्ति विरच्यते ॥१२॥

वर्षाभू शब्द को ही मेढ़क के अर्थ में बतलाया है। परमत के उल्लेख के बाद सायण ने अपने भी मत को बतलाया है। इस प्रकार यह ग्रन्थरत्न वास्तव में शब्दशास्त्र के लिये ज्ञान का भाण्डागार है। इसकी प्रसिद्धि भी तदनुकूल ही है। पीछे के वैयाकरणों ने बड़े आदर के साथ इसके मतों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। बहुत पहले पण्डितपत्र में इसका प्रकाशन हुआ था। पीछे महीशूर की संस्कृत ग्रन्थ माला में कई जिल्दों में एक बढ़िया संस्करण निकला था परन्तु दुर्भाग्य से यह उपलब्ध नहीं है। आजकल काशी संस्कृत सीरीज में १०३ वें ग्रन्थ के रूप में यह वृत्ति प्रकाशित हुई है।

इन चारों ग्रन्थों की रचना के समय सायणाचार्य संगम (द्वितीय) भूपाल के प्रधान मन्त्री थे[1]। इनकी रचना के समय उनकी अवस्था चालीस वर्ष से लेकर पैतालीस साल की सम्भवतः होगी। अतः इन चारों के निर्माण का काल वि० सं० १४१२ से लेकर वि० सं० १४२० है। सायण के जीवन का यह समय युद्धों में विजय-वैजयन्ती फहराने का समय था; इस समय में वह केवल संगम के राज्यप्रबन्ध में ही व्यस्त न थे, बल्कि अनेक संग्रामों में शत्रुओं को परास्त करने में भी संलग्न थे। यह बड़े आश्चर्य का विषय जान पड़ता है कि ऐसे समय में भी जब इन्हें शायद ही अवकाश मिलता हो सायण ने किस प्रकार एक नहीं, चार उपयोगी तथा स्थूलकाय पुस्तकों की रचना कर डाली। यह घटना इनके विशेष उत्साह, अटूट परिश्रम तथा

---

[1] (क) तस्य (सङ्गमस्य) मन्त्रि शिरोरत्नमस्ति मायणसायणः।

× × ×

तेन मायण—पुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
ग्रन्थः कर्मविपाकाख्यः क्रियते करुणावता॥

(ख) इति × × × श्री सङ्गमराज सकलराज्य धुरन्धरस्य...
... श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ... ॥

(ग) अस्ति श्री सङ्गमापःपृथ्वीतलपुरन्दरः।
तस्य मन्त्रिशिरोरत्नमस्ति मायणसायणः॥
तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते॥

अलोकसामान्य मनः शान्ति की पर्याप्त परिचायिका है। साधारण व्यक्ति के लिए इतना कार्य करना नितान्त असम्भव होता, परन्तु सायण जैसे महान् व्यक्ति के लिए विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ग्रन्थों की रचना का श्लाघनीय कार्य उनके अलौकिक गुणों को प्रकट कर रहा है।

(६) पुरुषार्थ-सुधानिधि

पुरुषार्थ-सुधानिधि में लिखा है[1] कि तत्त्ववेत्ता तथा सत्कथा-कौतुकी बुक्कभूपति ने सब विद्याओं के निकेतन श्री माधवाचार्य से प्रसन्न होकर पूछा कि हे महामते ! आपके श्रीमुख से मैंने विविध शास्त्रों, पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत को सुना है, परन्तु हे विप्रेन्द्र ! अल्पबुद्धि वाले पुरुषों के लिए ये गहन हैं। अतः आख्यान रूप से पुरुषार्थोपयोगी व्यासवाक्यों को मुझे सुनाइए। बुक्क के इस सुन्दर विचार से माधव नितान्त प्रसन्न हुए और राजा की प्रशंसा कर बोले कि यह मेरा सायणाचार्य नामक अनुज विद्वानों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। मेरे उपदेश से सब कथाओं को आपको सुना देगा। इस प्रकार राजा को प्रसन्न करके माधव ने सायण की ओर अपनी दृष्टि फेरी। तब सायण ने राजा से कहा कि हे महाप्राज्ञ ! आपका प्रस्ताव खूब सुन्दर है। आपकी बुद्धि धर्मोन्मुखी है। मैं लोक के हित की कामना से व्यासवाक्यों को कहता हूँ। सायण के इन व्यासवाक्यों का ही यह संग्रह 'पुरुषार्थ सुधानिधि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

---

[1] तं सर्वविद्यानिलयं तत्त्वविद् बुक्कभूपतिः।
सत्कथाकौतुकी हर्षादपृच्छत् राजशेखरम् ॥
श्रुतानि त्वन्मुखादेव शास्त्राणि विविधानि च।
पुराणोपपुराणानि भारतं च महामते ॥
सर्वाण्येतानि विप्रेन्द्र ! गहनान्यल्पमेधसाम्।
तस्मादाख्यानरूपाणि सुखोपायानि सुव्रत।
पुरुषार्थोपयोगीनि व्यासवाक्यानि मे वद ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा युक्तार्थं बुक्कभूपतेः।
प्रशस्य तं मुदा युक्तो माधवः प्रत्यभाषत ॥
"अयं हि कृतिनामाद्यः सायणार्यो ममानुजः

ऊपर के उद्धरण से ग्रन्थ के निर्माण होने का कारण जाना जाता है। यह ग्रन्थ विजयनगराधीश्वर श्री बुक्कराय की आज्ञा से लिखा गया था। महाभारत तथा पुराणों में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विषय में बहुत विवेचन है। इन वचनों को एक ग्रन्थ में एकत्रित करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसके पहले ही सायण ने 'सुभाषित सुधानिधि' में एतद् विषयक पद्यों का संग्रह किया था, परन्तु वह संग्रह संस्कृत के प्राचीन तथा समसामयिक कवियों की कृतियों से था। यह संग्रह व्यासरचित ही वचनों के संकलन होने से उससे सर्वथा भिन्न है।

(७) यज्ञतन्त्र-सुधानिधि

इसकी पुष्पिका[1] में सायण अपने को हरिहरमहाराज का सकल साम्राज्यधुरन्धर लिखा है। अतः हरिहर के समय में इसके विरचित होने की बात स्पष्ट ही है। अथर्वभाष्य तथा शतपथ भाष्य भी इस राजा के समय में बने। अतः इन भाष्यग्रन्थों के साथ यह ग्रन्थ सायण की अन्तिम रचना प्रतीत होता है। यज्ञों के अनुष्ठान के विषय में ग्रन्थ का होना नाम से जान पड़ता है। अभी तक छपा नहीं।

पुराणोपपुराणेषु पुरुषार्थोपयोगिनीः।
उपदिष्टा मया राजन्! कथास्ते कथयिष्यति" ॥
इति प्रसाद्य राजानं सायणार्यमुदैक्षत।
सायणार्योऽग्रजेनोक्तः प्राह बुक्कमहीपतिम् ॥
"साधु साधु महाप्राज्ञ! बुद्धिस्ते धर्मदेशिनी।
वदामि व्यासवाक्यानि लोकानां हितकाम्यया" ॥

[1]इति श्रीमद्राजाधिराज परमेश्वर हरिहरमहाराज-सकलसाम्राज्य-धुरन्धरस्य वैदिकमार्गस्थापनाचार्यस्य सायणाचार्यस्य कृतौ यज्ञतन्त्रसुधानिधौ...॥

अष्टम परिच्छेद

वेदभाष्य

सायण के इतर ग्रन्थों के विवरण के अनन्तर उनके वेदभाष्यों का प्रकृत विवेचन यहाँ अब प्रस्तुत किया जायगा। सायण के अन्य ग्रन्थों को उतना महत्त्व प्राप्त नहीं है जितना इन वेदभाष्यों को।

महत्त्व

सर्व साधारण तो इनकी अन्य रचनाओं के अस्तित्व से भी सर्वथा अपरिचित है। वह तो सायण को इन्हीं वेदभाष्यों के रचयिता के रूप में जानता है तथा आदर करता है। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की कमनीय कीर्तिलता को सर्वदा आश्रय देनेवाले विशाल कल्पवृक्ष हैं जिनकी शीतल छाया में आदरणीय आश्रय पाकर सायण की कीर्तिगरिमा सदैव वृद्धि तथा समृद्धि प्राप्त करती जायगी। ये वेदभाष्य ही सायणाचार्य की अलौकिक विद्वत्ता, व्यापक पाण्डित्य तथा विस्मयनीय अध्यवसाय को अभिव्यक्त करने के लिए आज भी नितान्त समर्थ हैं तथा भविष्य में भी बनाए रखेंगे। इन्हीं विशाल कीर्तिस्तम्भों की रचना की प्रकृत कथा प्रेमी पाठकों को सुनाई जावेगी।

महाराज बुक्कराय के संस्कृत साहित्य, आर्यधर्म तथा हिन्दू सभ्यता के प्रति विमल तथा प्रगाढ अनुराग से हम सर्वथा परिचित हैं। इसका प्रकटीकरण पीछे के परिच्छेद में प्रमाण पुरःसर किया जा चुका है। महाराज ने अपने उच्च विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के आदिम तथा प्राणभूत ग्रन्थरत्न वेदों के अर्थ की सुन्दर तथा प्रामाणिक ढंग से व्याख्या की जाय। इसके लिए उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु तथा राजनीतिज्ञ अमात्य माधव को आदेश दिया कि वेदों के अर्थ का प्रकाशन किया जाय। माधवाचार्य वेदार्थ के मर्मज्ञ मीमांसक थे। जैमिनीय न्यायमाला की रचना कर उन्होंने अपने मीमांसा ज्ञान का प्रकृष्ट परिचय दिया था। अतः ऐसे सुयोग्य विद्वान् से वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रार्थना करना नितान्त उपयुक्त था। परन्तु जान पड़ता है कि अनेक अन्य आवश्यक कार्यों में व्यग्र

रचना का उपक्रम

रहने के कारण माधव अपने शिष्य तथा आश्रयदाता के इस आदरणीय आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं हुए। इस कारण से अथवा किसी अन्य किसी अभिप्राय से माधव ने अपने ऊपर इस गुरुतर कार्य के निबाहने का भार नहीं रखा। फलतः उन्होंने राजा से कहा—यह मेरा छोटा भाई सायणाचार्य वेदों की सब बातों को जानता है—गूढ़ से ही गूढ़ अभिप्राय तथा रहस्य से परिचित है। अतः इन्हीं को इस व्याख्या कार्य के लिए नियुक्त कीजिए। माधवाचार्य के इस उत्तर को सुनकर वीर बुक्क महीपति ने सायणाचार्य को वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आज्ञा दी। तब कृपालु सायणाचार्य ने वेदार्थों की व्याख्या की।

यह विवरण तैत्तिरीय संहिताभाष्य के आरम्भ में दिया गया है[1]। इससे पाठकों को विदित हो जायगा कि वेदभाष्यों की रचना का उपक्रम क्योंकर हुआ। सायणाचार्य के जीवन का अब तक का समय कम्पण तथा संगम के मन्त्रीकार्य के सम्पादन में व्यय हुआ था। वे नल्लूर के आस पास शासन तथा प्रबन्ध करने में अब तक लगे थे। वे विजयनगर के शासक हरिहर तथा बुक्क के साथ घनिष्ठ परिचय तथा गाढ़ अनुराग प्राप्त करने में अभी तक सौभाग्यशाली न थे। सच तो यह है कि विजयनगर से बाहर अन्य भूपालों के संग राज्यप्रबन्ध में संलग्न रहने के कारण सायण बुक्क के दरबार से दूर ही रहते थे। अतः यदि महाराज बुक्क सायण की योग्यता तथा विद्वत्ता से सर्वथा अपरिचित हों, तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। माधव की विशेष योग्यता को वह भली भाँति जानते थे; क्योंकि माधव का

---

[1] तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने।
स प्राह नृपतिं "राजन्! सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम्" ॥
इत्युक्तो माधवार्येण वीर बुक्क महीपतिः।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥
—तैत्तिरीय संहिताभाष्योपक्रमणिका

समग्र जीवन विजयनगर के शासकों के संग ही बीता था। अतः उन्हें वेदार्थ के प्रकाशन के लिए आदेश देना नितान्त स्वाभाविक है। परन्तु माधव ने अपने आपको इस उत्तरदायी कार्य के सँभालने में न लगाकर अपने भाई को इसके लिए चुना। उन्हें अपने भाई की विपुल विद्वत्ता तथा वेद की मर्मज्ञता में बड़ा विश्वास था। अतः इस कार्य को उन्हें ही सौंपा। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि बुक्क की ही आज्ञा से वेदभाष्यों की रचना का सूत्र-पात हुआ, तथापि माधवाचार्य का हाथ इसमें विशेष दीखता है। अतः जिस प्रकार हम इन ग्रन्थ रत्नों के लिए सायणाचार्य के ऋणी हैं उसी प्रकार हम माधवाचार्य के भी हैं। माधव के लिए हमें और भी आदर है। आपकी यदि प्रेरणा कहीं न हुई होती, तो इन वेदभाष्यों की रचना ही सम्पन्न नहीं होती। अतः वेदाभिमानियों को महाराज बुक्क, माधवाचार्य तथा सायणाचार्य—इन तीनों के प्रति इन गौरवमय ग्रन्थों के लिए अपनी प्रगाढ़ कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

अब तक 'वेदभाष्य' शब्द का प्रयोग इस ढंग से किया गया है जिससे इसके द्वारा किसी एक ही ग्रन्थ को लक्षित करने का भाव प्रकट होता है।

संख्या

परन्तु बात ऐसी नहीं है। 'वेद' शब्द संहिता तथा ब्राह्मण के समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अतः वेदभाष्य के द्वारा संहिता तथा ब्राह्मण की व्याख्या लक्षित होती है। जिन संहिताओं तथा ब्राह्मणों के ऊपर सायण ने अपने भाष्य लिखे उनके नामों का यहाँ उल्लेख किया जाता है। जहाँ तक पता चलता है सायण ने ज्ञान काण्ड की व्याख्या में किसी ग्रन्थ को नहीं लिखा।

सायण ने इन सुप्रसिद्ध वैदिक संहिताओं के ऊपर अपने भाष्य लिखे—

(१) तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद की)

(२) ऋग्वेद संहिता

(३) सामवेद संहिता

(४) काण्व संहिता (शुक्लयजुर्वेदीय)

(५) अथर्ववेद संहिता

सायण के द्वारा व्याख्यात ब्राह्मण तथा आरण्यक—

क—कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण—

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण

(२) तैत्तिरीय आरण्यक

ख—ऋग्वेद के ब्राह्मण :—

(३) ऐतरेय ब्राह्मण

(४) ऐतरेय आरण्यक

ग—सामवेद के ब्राह्मण—

(५) ताण्ड्य (पञ्चविंशमहा) ब्राह्मण

(६) षड्विंश ब्राह्मण

(७) सामविधान ,,

(८) आर्षेय ,,

(९) देवताध्याय ,,

(१०) उपनिषद् ,,

(११) संहितोपनिषद्,,

(१२) वंश ,,

घ— शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण :—

(१३) शतपथ ,,

इस प्रकार सायणाचार्य ने ५ हिताओं के भाष्य तथा १३ ब्राह्मण-आरण्यकों की व्याख्या लिखी। सायणकृत वेदभाष्यों के नामोल्लेख से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उन्होंने चारों वेदों की संहिताओं के ऊपर अपने प्रामाणिक भाष्य लिखे तथा चारों वेदों के ब्राह्मण भाग की भी व्याख्या लिखी। शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के समग्र ब्राह्मणों पर सायण ने भाष्य लिखे। शुक्लयजुर्वेद का एक ही ब्राह्मण मिलता है। वह है शतपथ ब्राह्मण। यह विपुल-काय ग्रन्थ सौ बड़े २ अध्यायों में विभक्त है। सायण ने इस ग्रन्थ-रत्न की सुन्दर व्याख्या लिखी। सामवेद के आठ ब्राह्मण मिलते हैं। इन आठों ब्राह्मणों पर सायण ने व्याख्यान लिखा है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण तथा दो आरण्यक हैं—ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक; कौषीतकि ब्राह्मण तथा कौषीतकि आरण्यक। इनमें सायण ने पहले दोनों पर ही व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद की एक ही शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण तथा आरण्यक की व्याख्या सायण ने बनाई। कृष्णयजुर्वेद की अनेक शाखाओं के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु सायण ने इन सबों को छोड़कर अपनी ही शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य लिखे। इस प्रकार सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य

के एक विशाल भाग के ऊपर अपने विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य लिखे। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण हुआ है कि उनकी समता न तो किसी प्राचीन आचार्य से ही की जा सकती है और न किसी परवर्ती भाष्यकार से ही; क्योंकि किसी ने भी इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य नहीं बनाए। यही सायणाचार्य के भाष्यों का महत्त्व है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्यों के आरम्भ में कुछ न कुछ उपोद्घात के रूप में कतिपय पद्यों को रखा है। इनकी परीक्षा से हम इन भाष्यों की रचना के क्रम को भली भाँति बतला सकते हैं। सायणाचार्य ने सब से पहले बुक्कराय के आदेश से जिस वैदिक संहिता पर भाष्य लिखा वह कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता है[1]। इस संहिता के सर्वप्रथम भाष्य लिखे जाने का कारण यह नहीं है कि यह सायण की अपनी संहिता थी। सायण तैत्तिरीय शाख्याध्यायी ब्राह्मण थे।

रचना क्रम

अतः अपनी शाखा होने से तथा अतिपरिचित होने के हेतु तैत्तिरीय संहिता के ऊपर सब से पहले भाष्य लिखना उनके लिए उचित ही नहीं बल्कि स्वाभाविक भी है। परन्तु केवल इसी कारण से ही तैत्तिरीय भाष्य को सर्वप्रथम रचित होने का गौरव नहीं प्राप्त है। इसका एक और ही कारण है। यागानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है जिनके नाम अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा हैं। इनमें अध्वर्यु की प्रधानता मानी जाती है। वही यज्ञ के समस्त अनुष्ठानों का यजमान के द्वारा विधान कराता है। ऋग्वेद ने तो यहाँ तक कहा है कि वही यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करता है[2] (यज्ञस्य

तैत्तिरीय संहितातथा ब्राह्मण के भाष्य

---

[1] सायण भाष्य के साथ यह संहिता आनन्दाश्रम ग्रन्थावली (नं० ४२) में १९०० ई० से १९०५ तक ८ जिल्दों में प्रकाशित हुई है। इससे पहले कलकत्ते से भी यह भाष्य ४ जिल्दों में १८६०—१८८१ तक प्रकाशित हुआ था। आनन्दाश्रम संस्करण कलकत्ता संस्करण से बहुत अच्छा है।

[2] एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीर-मुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्यते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। —वेदभाष्य भूमिका संग्रह (चौखंभा) पृ० १४।

मात्रां विनिनीत उत्वः)। इस अध्वर्यु के लिए यजुर्वेद की संहिता प्रस्तुत की गई। यजुर्वेद के मंत्रों के द्वारा अध्वर्यु अपने कर्म (जिसे 'आध्वर्यव' कहते हैं) का निष्पादन करता है। 'यजुः' शब्द की निरुक्ति ही (यजुः यजतेः) इसके यागनिष्पादकत्व की सूचना देती है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति के अनन्तर ही स्तोत्र तथा शस्त्र नामक अवयवों की ऋग्वेद तथा सामवेद के द्वारा पूर्ति की जाती है। अतएव सब से अधिक उपयोगी होने के कारण उसका व्याख्यान सर्वप्रथम करना उपयुक्त है। यजुर्वेद भी दो प्रकार का है—कृष्ण तथा शुक्ल। कृष्णयजुः की बहुत-सी शाखाओं में तैत्तिरीय शाखा ही भाष्यकार की अपनी शाखा है। अतः तैत्तिरीय भाष्य की व्याख्या का सबसे पहले लिखा जाना प्रमाणसिद्ध है।

सायण ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य को लिखकर उसके ब्राह्मण तथा आरण्यक के व्याख्यान लिखने को क्रमबद्ध तथा उचित समझा। किसी अन्य वेद की संहिता पर भाष्य बनाने को अपने हाथ में लेने की अपेक्षा यह कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पूर्व वेद के ब्राह्मण तथा आरण्यकों का भी व्याख्यान उस की संहिता के भाष्य के अनन्तर प्रस्तुत कर दिया जाय। इस प्रकार उस वेद का भाष्य पूर्ण हो जाता है। इसी श्लाघनीय तथा स्वाभाविक क्रम को सायण ने सर्वत्र आदर दिया है। इसी शैली के अनुसार सायण ने तैत्तिरीय संहिता के अनन्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक पर भाष्य बनाया। सायण ने इन ग्रन्थों के आरम्भ में इनके पूर्वोक्त रचनाक्रम को स्पष्टतः ही प्रदर्शित किया है—

व्याख्याता सुख बोधाय तैत्तिरीयकसंहिता।
तद् ब्राह्मणं व्याकरिष्ये सुखेनार्थविबुद्धये॥

× × ×

व्याख्याता सुखबोधार्थं तैत्तिरीयकसंहिता।
तद् ब्राह्मणं च व्याख्यातं शिष्टमारण्यकं ततः॥

(२) तैत्तिरीय शाखा की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक के भाष्य निर्माण के पश्चात् ऋग्वेद के व्याख्यान लिखने की बारी आई। अध्वर्यु के बाद होता का कार्य महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसके लिए ऋग्वेद की आवश्यकता होती है। होता का कार्य—हौत्र—ऋग्वेदों के मंत्रों के द्वारा यागानुष्ठान के समय विशिष्ट

ऋग्भाष्य

देवताओं को बुलाना है[1]। वह ऋचाओं को स्वर के साथ उच्चारण करता है तब यज्ञों में देवताओं का आगमन होता है। इस हौत्र कर्म में ऋग्वेद संहिता का उपयोग है। अतः व्याख्यात संहिताओं में यह दूसरी संहिता है। सायण ने ऋग्भाष्य के आरम्भ में स्वयं लिखा है[2]:—

"आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥"

तैत्तिरीय श्रुति के अनन्तर ऋग्वेद का भाष्य लिखा गया, यह बात ठीक है। परन्तु सायण ने इस वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय तथा आरण्यक (ऐतरेय) का भाष्य पहले लिखा, अनन्तर संहिता का भाष्य तैयार किया। ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ में ही सायण ने इस काम को स्वीकार किया है—

मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदे ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानोपयोगित्वात् आदौ ब्राह्मणमारण्यकाण्डसहितं व्याख्यातम्। अथ तत्र तत्र ब्राह्मणोदाहरणेन मन्त्रात्मकःसंहिताग्रन्थो व्याख्यातव्यः ॥

सायण ने अपने वेदभाष्य का नाम 'वेदार्थप्रकाश' लिखा है तथा इसे अपने गुरु विद्यातीर्थ को समर्पित किया है :—

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुत्रार्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।

समूचे ऋग्भाष्य का प्रथम संस्करण डा० मैक्समूलर ने छ जिल्दों में १८४९-७४ ई० में सम्पादित किया था जिसे इस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रकाशित कराया था। दूसरा संस्करण पहले से अधिक शुद्ध ४ जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। भारतवर्ष में तुकाराम तात्या ने ८ जिल्दों में इस भाष्य को निकाला था। आजकल तिलक विद्यालय पूना से भाष्य का बहुत ही विशुद्ध संस्करण प्रकाशित हो रहा है। अष्टम मण्डल तक ३ जिल्द छप गये हैं। चौथे जिल्द में यह ग्रन्थ पूरा हो जायगा। यह संस्करण मैक्समूलर के संस्करण से

---

[1] वेदभाष्यभूमिका संग्रह पृ० ६३

[2] 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्' होतृ नामक एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानामृचां पुष्टिं कुर्वन्नास्ते। भिन्नप्रदेशेषु आम्नातानां ऋचां संघातमेकत्र सम्पाद्यैतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति सेयं पुष्टिः। वेदभाष्यभूमिका संग्रह पृ० १३

कहीं अच्छा है। इसमें उपलब्ध समग्र हस्तलेखों का उपयोग किया गया है।

(३) होता के अनन्तर उद्गातृ नामक ऋत्विक् का काम आता है। वह उच्च स्वर से सामों को गाता है। इसी कारण वह 'उद्गातृ' (उच्च स्वर से गाने वाले) के नाम से प्रसिद्ध है[1]। सामों के गाने के उसके इस कार्य को 'औद्गात्र' कहते हैं। इसके लिए सामवेद की आवश्यकता होती है। ऋचाओं के ऊपर साम गाए जाते हैं। अतः ऋग्वेद के बाद सामवेद की व्याख्या युक्तियुक्त है। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार शरीर के उत्पन्न होने पर आभूषण पहने जाते हैं, उसी प्रकार ऋचाओं के द्वारा यज्ञ शरीर भूषित किया जाता है और जैसे आभूषणों में मोती तथा हीरे जड़े जाते हैं तथा उनका आश्रय आभूषण ही होता है, वैसे ही ऋचाओं को अलंकृत करने वाले तदाश्रित रहने वाले सामों की स्थिति है[2]। अतः एक के बाद दूसरे की व्याख्या क्रम-प्राप्त भी है तथा स्वाभाविक भी। सायणाचार्य ने इसको स्वयं स्वीकार किया है तथा सामभाष्य को ऋग्भाष्य के अनन्तर विरचित बतलाया है[3]। सामवेद की संहिता के अनन्तर उसके ब्राह्मणग्रन्थों पर भाष्य लिखे गए। सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं। इन सब ब्राह्मणों की व्याख्या

सामभाष्य

---

[1] 'गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु'। उद्गातृनामक एक ऋत्विक् गायत्र शब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयासु ऋक्षु उद्गायति

—वेद० भा० सं० पृ० १३

[2] जाते देहे भक्त्यस्य कटकादिविभूषणम्।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ॥१२॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम्।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ॥१३॥

[3] यज्ञं यजुभिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः।
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम् ॥१०॥
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते।
अनुतिष्ठासु जिज्ञासावशाद् व्याख्याक्रमो ह्ययम् ॥११॥

—वे० भा० भू० सं० पृ० ६३

सायण ने की है[१]। अष्टम वंश ब्राह्मण के व्याख्यान के आरम्भ में संहिता-त्रयी के अनन्तर साम ब्राह्मणों के निर्माण होने की बात को भाष्यकार ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है[२]। सामवेद का कोई भी आरण्यक नहीं है। अतः अभाववशात् इसके भाष्य-ग्रन्थ भी सायण ने नहीं बनाए। इन साम ब्राह्मणों की भी व्याख्या उसी क्रम से की गई जिस क्रम से इनका नामोल्लेख पहले किया गया है। सबसे पहले ताण्ड्य ब्राह्मण की तथा सबके अन्त में वंश ब्राह्मण की व्याख्या लिखी गई[३]।

(४) सामवेद के अनन्तर काण्व संहिता का भाष्य बना। यजुर्वेद के दो प्रकार हैं—कृष्ण यजुः तथा शुक्ल यजुः। इनमें कृष्ण यजुः की तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या सबसे पहले की गई थी। शुक्ल यजुः की दो संहितायें हैं—एक माध्यन्दिनि संहिता और दूसरी काण्व संहिता। सायण के लगभग तीन सौ वर्ष पहले ही राजा भोज के शासन काल में आनन्दपुर वास्तव्य आचार्य उव्वट ने माध्यन्दिन संहिता की विवृति लिखी थी[४]। वह इतनी प्रामाणिक है कि इसके ऊपर फिर से भाष्य लिखने की आवश्यकता नहीं। अतः शेष बची काण्व संहिता का भाष्य सायण ने लिखा, परन्तु इसके आधे ही पर (२० अध्यायों पर ही) उनका भाष्य मिलता है तथा चौखम्भा से प्रकाशित हुआ है। जान पड़ता है कि सायण ने उत्तरार्ध के

काण्व भाष्य

---

[१] पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद के ग्रन्थों के उद्धार करने में बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया है। उन्होंने सामसंहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण तथा अन्य सब ब्राह्मणों का सभाष्य संस्करण कलकत्ते से प्रकाशित किया था। ताण्ड्य का नया संस्करण चौखम्भा से भी प्रकाशित हुआ है।

[२] व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदोऽपि संहिता।
व्याख्याता, ब्राह्मणस्याथ व्याख्यानं संप्रवर्तते॥
—वंश ब्राह्मणभाष्य।

[३] प्रौढानि ब्राह्मणान्यादौ सप्त व्याख्याय चान्तिमम्।
वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणोव्याचिकीर्षति॥

[४] आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं कृत्सं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥
—उव्वट भाष्य का अन्त।

ऊपर व्याख्या नहीं लिखी। अनन्ताचार्य ने अपने काण्व संहिता भाष्य के आरम्भ में इस बात की पुष्टि की है :—

व्याख्याता काण्वशाखीय संहिता पूर्वविंशतिः।
माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा॥

साम के अनन्तर काण्व भाष्य के लिखे जाने की बात को सायण ने स्वयं स्वीकार किया है[1]।

(५) संहिताभाष्यों में अथर्व भाष्य सब के अन्त में बना। सायणाचार्य ने अथर्व भाष्य के उपोद्घात में लिखा है कि वेदत्रयी के अनन्तर अथर्व की व्याख्या लिखी गई। वेदत्रयी के पहले व्याख्या करने का कारण ऊपर दिया गया है। उसमें एक अन्य कारण यह भी है कि वेदत्रयी के विधानों का फल स्वर्गलोक में मिलने वाला होता है, परन्तु अथर्ववेद के द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठानों का फल पारलौकिक (आमुष्मिक) ही नहीं होता, प्रत्युत ऐहिक भी होता है। अतः पारलौकिक फल वाले तीनों वेदों के भाष्य के पीछे उभय लोक के कल्याण करनेवाले (ऐहिकामुष्मिक) अथर्ववेद का भाष्य सायण ने बनाया—

व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम्।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति॥

—अथर्वभाष्य का उपोद्घात।

अथर्ववेद के ऊपर सायण का ही एक मात्र भाष्य मिलता है, परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक उसका सम्पूर्णकोष उपलब्ध नहीं हुआ। अभी तक यह त्रुटित ही है। इस वेद का सायण भाष्य श्री काशीनाथ पाण्डुरङ्ग पण्डित ने बड़े परिश्रम से ४ बड़े-बड़े जिल्दों में बम्बई से (१८९५-१८९८ ई०) प्रकाशित किया है। वही इस भाष्य का एकमात्र संस्करण है। इसमें अथर्व के २० काण्डों में से केवल १२ काण्डों (१, २, ३, ४, ६-८, ११, १७-२०) पर ही सायण भाष्य है, अन्य ८ काण्ड (५, ९, १०, १२-१६) बिना भाष्य के ही छापे गये हैं। पर सुनते हैं, सायण के पूरे भाष्य की भी प्रति ग्वालियर में उपलब्ध है। इसका प्रकाशन होना चाहिए।

अथर्व भाष्य

[1] वे० भा० सं० पृ० १०३।

सायण के भाष्यों में शतपथभाष्य सब से पीछे की रचना है। वेदत्रयी का तथा अन्य ब्राह्मणों के भाष्य बुक्क के राज्यकाल में लिखे गये। अथर्व तथा शतपथ के भाष्य हरिहर द्वितीय के राज्यकाल की रचनायें हैं। सायण ने पूरे शतपथ पर भाष्य लिखा था, परन्तु वह उपलब्ध नहीं होता। इसके तीन संस्करण समय-समय पर प्रकाशित हुये हैं। डा० वेबर के संस्करण में सायण भाष्य अधूरा है। स्थान-स्थान पर हरिस्वामी का भाष्य दिया गया है। कलकत्ता के एशिएटिक सोसाइटी का संस्करण अधूरा है। इधर वेंकटेश्वर प्रेस से शतपथ-भाष्य ५ जिल्दों में अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। यह संस्करण विशुद्ध प्रतीत होता है। इसमें जिन काण्डों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं है, वहाँ हरिस्वामी का भाष्य दे दिया गया है। अतः हरिस्वामी तथा सायण—दोनों के स्थान-स्थान पर भाष्यों को मिला देने से हमें पूरा सभाष्य शतपथ उपलब्ध हो गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर वेबर ने द्विवेद गंग का भाष्य प्रकाशित किया था; वेंकटेश्वर संस्करण में 'वासुदेव ब्रह्म भगवान्' का भाष्य है। इस संस्करण का प्रकाशन वेदानुशीलन के लिए बड़ा उपयोगी है।

शतपथ भाष्य

वेदभाष्यों के रचना काल का निर्णय नितान्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। सायणाचार्य ने किस समय इनकी रचना की? इनकी रचना के समय भाष्यकार की अवस्था क्या थी? वे उस समय युवा थे अथवा वृद्धावस्था में पैर रखा था? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस रचना-काल का निर्णय हम बहिरंग तथा अन्तरंग साधनों की सहायता से यहाँ करने का प्रयत्न करेंगे।

रचना काल

बड़ौदा की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में ऋग्वेदभाष्य की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। इसमें केवल ऋग्वेद के चतुर्थ अष्टक का सायण भाष्य है। इस प्रति का लिपिकाल १४५२ विक्रम संवत् है। इसे ऋग्वेदभाष्य की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति समझनी चाहिए। इससे अधिक प्राचीन प्रति अब तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है। सायण की मृत्यु वि० सं० १४४४ में ऊपर बतलाई गई है। अतः सायण की मृत्यु के आठवें वर्ष ही संभवतः यह हस्तलिखित प्रति तैयार की गई। इससे ऋग्वेदभाष्य की रचना वि० सं० १४५२ के पहले अवश्य की गई होगी यह नितान्त स्पष्ट है।

भाष्यों में सायण ने ग्रन्थ-रचना के काल का निर्देश कहीं भी नहीं किया है। यदि किया होता, तो रचना काल का निःसन्दिग्ध निर्णय हो जाता, परन्तु काल-निर्देश न होने पर भी सायण ने अपने आश्रयदाताओं के नाम का जो उल्लेख किया है उससे रचना-समय का पता भली भाँति चल सकता है। तैत्तिरीय संहिता आदि चारों संहिताओं तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि उपरि निर्दिष्ट बारह ब्राह्मणों के भाष्य के आरम्भ में सायण ने बुक्कनरेश के आदेश से इन के भाष्यों के रचे जाने की घटना का उल्लेख किया है[1]। इन भाष्यों की पुष्पिका में सायण ने अपने को वैदिकमार्गप्रवर्तक राजाधिराज श्री वीर बुक्क का मन्त्री (साम्राज्य-धुरन्धर) लिखा है[2]। अथर्वसंहिता की भाष्यावतरणिका में सायण ने बुक्कनरेश के पुत्र महाराजाधिराज, 'धर्मब्रह्माध्वन्य,' षोडश महादानों को करने वाले, विजयी हरिहर (द्वितीय) का उल्लेख किया है।[3] शतपथ ब्राह्मण के भाष्यारम्भ में इन्हीं हरिहर का उल्लेख प्रायः इन्हीं शब्दों में पाया जाता है[4]। इनकी पुष्पिका से पता चलता है कि इन भाष्यों की रचना

---

[1]. तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्यप्रकाशने ॥

बुक्क महीपति का नामोल्लेख करने वाला यह पद्य इन सब संहिताओं तथा ब्राह्मणों के भाष्योपोद्घात में मिलता है।

[2]यथा ऋग्भाष्य की पुष्पिका—

इति श्रीमत् राजाधिराजपरमेश्वर-वैदिक मार्गप्रवर्तक श्री वीर बुक्क-साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीयवेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिता-भाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः।

[3]तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः।
अभूत् हरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ॥

—वे० भा० सं० पृ० ११६।

[4]तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः।
कृतावतरणः क्षीरसागरादिव चन्द्रमाः ॥३
विजितारातिव्रातो वीरः श्री हरिहरः क्ष्माधीशः ॥
धर्मब्रह्माध्वन्यः समादिशत् सायणाचार्यम् ॥४

—शतपथ भाष्य का उपोद्घात,

के समय सायण हरिहर द्वितीय के प्रधान मन्त्री थे तथा उन्हीं के कहने पर इन्होंने इन ग्रन्थों की रचना की। इन निर्देशों से हम वेदभाष्य की रचना के समय का निर्धारण कर सकते हैं। हमने सप्रमाण सिद्ध किया है कि सायण वि० सं० १४२१ से लेकर वि० सं० १४३७ तक (१३६४ ई० से १३७८ ई० तक) लगभग सोलह वर्षों तक बुक्क महाराज के प्रधान मंत्री तथा वि० सं० १४३८ (१३७६ ई०) से लेकर अपने मृत्यु सं० १४४४ वि० (१३८७ ई०) हरिहर द्वितीय के प्रधान अमात्य थे। इससे प्रतीत होता है कि लगभग वि० सं० १४२० से लेकर वि० सं० १४४४ तक अर्थात् २४ वर्षों के सुदीर्घ काल में सायणाचार्य ने वेदों के भाष्य बनाए। उस समय सायण की उम्र लगभग अड़तालीस या पचास वर्ष की थी।

इस समय ये वेदों के सकल गूड अर्थ के प्रतिपादन करने में नितान्त निष्णात थे। अतः अपने गंभीर शास्त्र ज्ञान का परिचय सायण ने इन भाष्यों में दिया है। आज कल पंडितजन तो पचास की उम्र में शास्त्राभ्यास से किनारा कसने लगते हैं। इसी उम्र में इतना बड़ा काम उठाना तथा उसे सुचारु रूप से समाप्त कर देना बड़े साहस अध्यवसाय तथा पाण्डित्य का आश्चर्यजनक कार्य है। सायणाचार्य ने इस कार्य के स्वीकार करने के अनन्तर अन्य किसी विशिष्ट कार्य को अपने हाथ में नहीं लिया। उन्होंने अपना शेष जीवन इसी कार्य में लगाया। इससे निश्चित होता है कि सायण ने अपने जीवन के अन्तिम बीस या चौबीस वर्ष इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन में लगाया तथा इसे सफलतापूर्वक समाप्त किया। पूर्वोक्त आधार पर वेदभाष्य का रचना काल वि० सं० १४२० से लेकर वि० सं० १४४४ है।

'माधवीय' नाम का रहस्य

सायणाचार्य ने अपने कतिपय ग्रन्थों के नामों के पहिले 'माधवीय' शब्द का प्रयोग किया है। सायण की ही बनाई धातुवृत्ति 'माधवीया धातुवृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। सायण विरचित ही ऋक् संहिता भाष्य 'माधवीय' नाम से ग्रन्थ की पुष्पिका में कहा गया है। इसे देखकर कतिपय आलोचकों को भ्रम बना हुआ है कि इन ग्रन्थों की रचना माधव ने ही की परन्तु सायण के ग्रन्थों की छानबीन करने से यही प्रतीत होता है कि आलोचकों का यह का सिद्धान्त भ्रान्त है। इन ग्रन्थों के आरम्भ और अन्त की परीक्षा करने से इस विषय में किसी को भी सन्देह नहीं रहना चाहिये कि इनके वास्तविक

रचयिता सायण ही हैं। तब माधवीय नाम देने का क्या रहस्य है? इसका ऊहापोह करने पर समुचित कारण को समझना कुछ कठिन नहीं है। यह प्रमाण तथा उद्धरण के साथ पहिले ही दिखलाया जा चुका है कि इन ग्रन्थों की रचना का आदेश तत्कालीन विजयनगराधीश ने माधवाचार्य ही को दिया। इनके लिखने की आज्ञा प्रत्यक्ष रूप से सायण को कभी नहीं मिली। माधवाचार्य के ही द्वारा तथा उन्हीं की प्रशस्त प्रशंसा करने पर बुक्क नरेश ने इस महत्त्व-पूर्ण कार्य के सम्पादन का भार सायण के हाथों में दिया। इस प्रकार इन वेद भाष्यों की रचना में माधव का प्रोत्साहन नितान्त सहायक था। अतएव अपने ज्येष्ठ भ्राता के उपकार भार से अवनत होकर यदि सायण ने इन ग्रन्थों का 'माधवीय' नामकरण किया तो इसमें हमें तो नितान्त औचित्य ही नहीं दिखाई पड़ता प्रत्युत सायण के निश्छल तथा निष्कपट हृदय की भी एक भव्य झांकी मिलती है। अतएव अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में भी 'माधवीय' नाम देना इस बात को सूचित कर रहा है कि माधव के द्वारा ही सायण को अपने साहित्यिक कार्यों को सुसम्पादित करने का अवसर मिला। अतः 'माधवीय' नाम से माधव के ग्रन्थ-कर्तृत्व से किसी तरह का संबंध हमें नहीं प्रतीत होता। सायण ने इन वेदभाष्यों का नाम 'वेदार्थ प्रकाश' लिखा है तथा इन्हें अपने विद्यागुरु श्री विद्यातीर्थ स्वामी को अर्पित किया है—

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः॥

वेदभाष्य का एक-कर्तृत्व

विपुलकाय वेदभाष्यों को देखकर आधुनिक आलोचक चकराया करते हैं कि क्या यह संभव है कि विविध राजकीय कार्यों में व्यस्त तथा विशाल साम्राज्य का प्रबन्धक, किसी राजा का एक अमात्य इतने बड़े ग्रन्थ को बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से अकेले बना सकता है? अतः उनके हृदय में यह संशय सदा प्रच्छन्न रूप से बना रहता है कि सायण ने स्वयं इन ग्रन्थों की रचना नहीं की। बल्कि उनकी अध्यक्षता में अनेक विद्वानों ने निरन्तर परिश्रम करके इस ग्रन्थ रत्नों को प्रस्तुत किया है। शिलालेख का प्रमाण किसी अंश में पूर्वोक्त संशय को पुष्ट कर रहा है सम्वत् १४४३ वि० (सन् १३८६ ई०) में लिखे गए एक शिलालेख[1]

[1] Mysore Archaeological Repont for 1908 page 54.

में लिखा मिलता है कि वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापक, धर्मब्रह्माध्वन्य, महाराजाधिराज श्री हरिहर ने ब्रह्मारण्य श्रीपादस्वामी के समक्ष चतुर्वेदभाष्य प्रवर्तक, नारायण वाजपेय याजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित किया। इस शिलालेख का 'चतुर्वेद भाष्य प्रवर्तक' शब्द संभवतः इस बात की सूचना कर रहा है कि इन तीन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य बनाने में सहायता प्रदान की। विद्यारण्य स्वामी के समक्ष में अग्रहार-दान भी इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। यह तो सिद्ध ही है कि माधव ही विद्यारण्य स्वामी थे। अतः जिनके प्रोत्साहन से वेदभाष्य की रचना हुई उन्हीं के समक्ष में इन ब्राह्मणों को सम्मानित करना इन तीन विद्वानों की भाष्य प्रणयन में किसी प्रकार की सहायता देने की सूचना दे रहा है। इसी शिलालेख के आधार पर नरसिंहाचार्य ने इन विद्वानों को भाष्य-निर्माण में सायण का सहायक माना है[1]। डा० गुणे ने भी ऋग्वेद-भाष्य की अन्तरङ्ग परीक्षा से वेदभाष्य के एक-कर्तृत्व होने में सन्देह प्रकट किया है। इन्होंने वेदभाष्य के भिन्न-भिन्न अष्टकों में प्राप्त होनेवाले मन्त्रांशों की विभिन्न व्याख्या शैली देखकर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि इन भागों की भिन्न-भिन्न विद्वानों ने व्याख्या लिखी है[2]। इन विद्वानों का सन्देह किसी ही अंश में सत्य हो सकता है सर्वांश में नहीं। सायणाचार्य विजयनगर के मन्त्री थे। अनेक विद्वानों का जमघट विद्याप्रेमी राजा के दरबार में अवश्य होता होगा। यह अनुमान-सिद्ध है। अतः कतिपय विद्वानों ने सायण को इस विशाल कार्य में सहायता अवश्य पहुँचाई होगी। यह कोई असंभव घटना नहीं प्रतीत होती। परन्तु इससे इस मत का खण्डन किसी अंश में भी नहीं होता कि वेदभाष्य का कर्तृत्व एक ही पुरुष के ऊपर निर्भर है। वेदों के भिन्न-भिन्न संहिता भाष्यों के अनुशीलन करने से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब भाष्य न केवल एक ही पद्धति से लिखे गये हैं बल्कि इनके मन्त्रों के अर्थों में भी नितान्त सामञ्जस्य है। मन्त्रार्थ में विरोधाभास को देखकर भले ही कतिपय आलोचक चक्कर में पड़ जाँय और सायण के कर्तृत्व में अश्रद्धालु हों परन्तु वेदभाष्यों की विशालता को देखकर, मन्त्रार्थों की

---

[1] इंडियन ऐंटिक्वेरी (वर्ष १९१६), पृ० १९

[2] आशुतोष जुबिली का मेमोरेशन वालुम भाग ९ पृ० ४३७–४७६

व्याख्या का अनुशीलन कर, वेदभाष्यों के उपोद्घातों का मनन कर, हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि वाह्य कतिपय कल्पित विरोधों के अस्तित्व होने पर भी, इनके ऊपर एक ही विद्वान् रचयिता की कल्पना की छाप है और वह रचयिता सिवाय सायणाचार्य के अन्य कोई व्यक्ति नहीं है।

जिन तीन विद्वानों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे विशेष प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। १४३७ सं (१३८० ई०) में नारायण बाजपेययाजी को दान का उल्लेख मिलता है। १४३८ सं० (१३८१ ई०) नारायण, नरहरि तथा पण्डरि दीक्षित को हरिहर द्वितीय के पुत्र चिक्कराम ने भूमिदान दिया जब वे 'आरग' नामक स्थान के शासक थे।[1] इन पण्डितों ने सायण को वेदभाष्य में लिखने की सहायता अवश्य की थी। सायण के साथ सहयोग देने के लिए विद्वानों की एक मण्डली उपस्थित थी जो उनकी संरक्षता में वेद के भिन्न-भिन्न भागों पर भाष्य लिखती थी, यह सिद्धान्त मानना युक्तिपूर्ण है। इतना होने पर भी भाष्यों की एककर्तृता में हम अविश्वास नहीं कर सकते क्योंकि इनकी रचना में सायण ही पथ-प्रदर्शक थे।

---

[1] इंडियन एंटिक्वेरी, १९१६, पृ० १९

नवम परिच्छेद

सायण—पूर्व भाष्यकार

वेद के अर्थानुचिन्तन की परम्परा बड़ी पुरानी है। प्राचीनकाल से अनेक विद्वान् वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों पर भाष्य लिखते आये हैं। इस अध्याय में सायण से प्राचीन भाष्यकारों का संक्षिप्त परिचय है। इससे पता चलेगा कि किस वेदभाष्य की परम्परा कितनी पुरानी है। प्राचीन भाष्यों के उल्लेख इधर-उधर बिखरे मिलते हैं। यदि ये मिल जाँय, तो इस परम्परा की अनेक श्रृंखलाओं का ज्ञान हमें हो जायगा। इस अनुशीलन से सायण की महत्ता नितान्त स्पष्ट है। सायण के पहले किसी भी भाष्यकार ने इतने वैदिक ग्रन्थों पर भाष्य निर्माण नहीं किये थे। एक संहिता को छोड़कर वह दूसरी संहिता को छूता तक नहीं। स्थानाभाव से इस अध्याय में केवल प्रधान भाष्यकारों का ही परिचय है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त।

(१)

तैत्तिरीय भाष्य

तैत्तिरीय संहिता कृष्ण यजुर्वेद की प्रधान संहिता है। सायणाचार्य ने सब से पहले इसी संहिता पर अपना प्रसिद्ध भाष्य लिखा। सायण के भाष्य के पहले भी अनेक आचार्यों ने इस संहिता पर अपना व्याख्यान लिखा था। इन व्याख्याकारों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त कम है। इनके भाष्य भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इन्होंने भाष्य बनाया—इसका पता हमें केवल परवर्ती लेखकों के ग्रन्थों में दिए गए उल्लेखों से ही चलता है। केवल एक ही भाष्यकार भास्कर मिश्र का पूरा भाष्य मिलता है तथा सुन्दर रीति से सम्पादित कर प्रकाशित भी किया गया है। भट्ट भास्कर मिश्र का ही व्यक्तित्व इस संहिता के सायण-पूर्व भाष्यकारों में विशेषरूप से परिस्फुट है। इस सामान्य वर्णन के अतिरिक्त इनका कुछ विशिष्ट वर्णन यहाँ किया जाता है।

कुण्डिन—कुण्डिन ने तैत्तिरीय संहिता पर वृत्ति बनाई थी, इसका पता हमें काण्डानुक्रमणी के इस श्लोकार्ध से चलता है—

'यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ।'

पदपाठकार आत्रेय के साथ सम्बद्ध होने से कुण्डिन एक प्राचीन आचार्य प्रतीत होते हैं। बहुत सम्भव है कि इन्होंने गुप्त काल में अपनी वृत्ति बनाई हो। इनका न तो ग्रन्थ मिला है और न अन्य बातों का ही पता चलता है।

भवस्वामी—आचार्य भवस्वामी ने भी इस संहिता पर भाष्य बनाया होगा। इसका पता बौधायन प्रयोगसार के आरम्भ में केशवस्वामी के इस वाक्य से चलता है—भवस्वामिमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यङ्गीकृत्य प्रयोगसारः क्रियते।

भास्करभट्ट ने अपने भाष्य के आरम्भ में भवस्वामी का उल्लेख किया है, जिससे इनके भाष्यकार होने की बात पुष्ट होती है।

गुहदेव—इनके तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार होने में सबसे निश्चित प्रमाण देवराज यज्वा के निघण्टुभाष्य से मिलता है। भाष्य के आरम्भ में देवराज्य यज्वा ने गुहदेव को भाष्यकार लिखा है। तैत्तिरीय आरण्यक के 'रश्मयश्च देवा गरगिर' मन्त्र के 'गरगिरः' शब्द की गुहदेव कृत व्याख्या को देवराज ने उद्धृत किया है[1] जिससे इनके तैत्तिरीय संहिता के व्याख्याकार होने की बात पुष्ट होती है। ये भी प्राचीन भाष्यकार हैं, क्योंकि आचार्य रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में गुहदेव का नामोल्लेख किया है।[2] अतः विक्रम की आठवीं या नवीं शताब्दी में इनका होना अनुमान-सिद्ध है।

क्षुर—आचार्य क्षुर ने तैत्तिरीय संहिता पर कोई भाष्य अवश्य लिखा था। इसका पता सायणाचार्य की 'माधवीया धातुवृत्ति' में दिए गए अनेक निर्देशों से मिलता है। इनमें क्षुर का नाम भट्ट भास्कर के नाम से पूर्व ही उल्लिखित है—यथा त्रय एनां महिमानः सचन्ते (तै० सं० ४-३-११) इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः सचन्ते सेवन्ते इति। हमारा अनुमान है कि क्षुर भास्कर

---

[1] तथा च 'रश्मयश्च देवा गरगिरः' इत्यत्र गुहदेवः 'गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः इति भाष्यं कृतवान् ।'

[2] यथोदित क्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद् बोधायन-टङ्क-द्रमिड-गुहदेव - कपर्दि - भारुचि - प्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यान सुव्यक्तार्थश्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्थाः ।

मिश्र से पहले ही हुए और अपना भाष्य बनाया। इनके विषय में अन्य कुछ भी ज्ञात नहीं।

भट्ट भास्कर मिश्र—भास्कर मिश्र सायण-पूर्व कालीन भाष्यकारों में बहुत ही उन्नत स्थान रखते हैं। इनकी विद्वत्ता, वैदिकता तथा प्रामाणिकता इस बात से भी विशेष रूप से सिद्ध होती है कि आचार्य सायण ने अपने वेदभाष्य में तथा देवराजयज्वा ने अपने निघण्टु भाष्य में इनकी सम्मति को उद्धृत किया है तथा इनके द्वारा प्रदर्शित अर्थ का सादर उल्लेख किया है। इनका समय ११वीं शताब्दी के आसपास है। इनके विस्तृत भाष्य का नाम 'ज्ञानयज्ञ' है जो मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला में कई जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भी प्रामाणिक टीकायें उपलब्ध हैं—

(१) भवस्वामी—भट्टभास्कर के कथनानुसार इनका भाष्य वाक्यार्थैक-परक था। केशव स्वामी ने, जिनका नाम 'त्रिकाण्ड मण्डन' (११ शतक) में उल्लिखित है, बौधायन प्रयोगसार में भवस्वामी का नाम निर्दिष्ट किया है। अतः इनका समय १० म शतक है। तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मण पर इनके भाष्यों का निर्देश मात्र मिलता है। भाष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है।

(२) भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भाष्य लिखा है।

ऋग्वेद के भाष्य

ऋग्वेद वैदिक संहिताओं में सर्वप्रथम माना जाता है अतः इसके भाष्य लिखने की ओर प्राचीन विद्वानों का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। सायण से पहले अनेक वैदिक विद्वानों ने पूरे ऋग्वेद पर या उसके किसी अंश पर भाष्य लिखकर इसके अर्थ को बोधगम्य बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया है, इनका संक्षिप्त विवरण यह है—

(१) **माधवभट्ट**—बड़े प्राचीन टीकाकार हैं। इनके भाष्य का केवल एक खण्ड अभी तक प्रकाशित हुआ है, जिसमें प्रथम अष्टक के चार अध्यायों का ही भाष्य है। अन्य चार अध्यायों का भाष्य अभी छप रहा है।

(२) **स्कन्द स्वामी**—इनका समय ७ शतक के आसपास है। इन्होंने नारायण और उद्गीथ के साथ ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था। वेंकटमाधव के कथनानुसार इन तीनों ने मिलकर भाष्य की रचना की —

स्कन्दस्वामीनारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम् ॥

इस भाष्य का अभी प्रथम अष्टक मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। (३) वेंकटमाधव—इनकी टीका बहुत ही अल्पाक्षर है। उसकी समानता स्कन्दस्वामी के भाष्य से नहीं की जा सकती, सायण के भाष्यों की तो बात ही अलग है। इनके पिता का नाम 'वेंकट' था। इसीलिए ये 'वेंकट माधव' नाम से प्रख्यात हैं। माधव भट्ट इन से प्राचीन हैं, दोनों को एक मानना नितान्त चिन्तनीय है। देवराज यज्वा (१३७० वि०) ने अपने 'निघण्टु-भाष्य' में इनका उल्लेख किया है तथा केशवस्वामी (१३०० वि०) ने 'नानार्थार्णव संक्षेप' में इनके एक अर्थ का निर्देश किया है, इससे स्पष्ट है कि ये १३०० विक्रमी से पूर्व के ग्रन्थकार हैं। नाम से ये दक्षिणभारत के निवासी प्रतीत होते हैं।

(४) आनन्दतीर्थ—द्वैतमत के संस्थापक श्रीमध्वाचार्य ने ऋग्वेद के आरम्भ के ४० सूक्तों पर छन्दोबद्ध भाष्य लिखा है। इस भाष्य का प्रधान उद्देश्य यह दिखलाना है कि वेद के समग्र मन्त्रों में विष्णु की ही स्तुति की गई है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इस गीता वचन के अनुसार भगवान् नारायण की स्तुति वेदों में विद्यमान है, इस भाष्य से यह बात स्पष्ट है। जयतीर्थ ने इस भाष्य पर अपनी पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है।

(५) आत्मानन्द—इन्होंने ऋग्वेद के अन्तर्गत अस्यवामीय सूक्त पर भाष्य लिखा है जो अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है। इस भाष्य में इन्होंने विज्ञानेश्वर (१२ श० विक्रमी) तथा स्मृतिचन्द्रिका के कर्ता देवणभट्ट (१३ वि०) के नाम का उल्लेख किया है जिससे इनका समय १४ श० के आस-पास प्रतीत होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण पर भी निम्नलिखित भाष्य सायण से पहले उपलब्ध होते हैं—

(१) गोविन्दस्वामी—'दैव' की टीका 'पुरुषकार' के कर्ता श्रीकृष्ण-लीला शुक मुनि (१३ शतक) ने १६८ कारिका की टीका में गोविन्दस्वामी का उल्लेख किया है। यही उद्धरण 'माधवीया धातुवृत्ति' में भी मिलता है। 'बौधायनीय धर्म विवरण' का लेखक संभवतः यही ग्रन्थकार है। इसमें भट्ट-कुमारिल का निर्देश तथा तन्त्रवार्तिक का उद्धरण मिलता है। अतः इनका ७

शतक से १३ श० के बीच का समय संभवतः १०म शतक है।

(२) षड्गुरुशिष्य—इन्होंने सर्वानुक्रमणी पर 'वेदार्थदीपिका' की रचना १२३४ सं० में की थी। ये बड़े भारी वैदिक थे। इन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण, ऐत० आरण्यक, आश्वलायन श्रौत तथा गृह्यसूत्र, तथा सर्वानुक्रमणी पर टीका लिखी है।

सामवेद भाष्य

सामसंहिता के ऊपर सायण से पहले ये भाष्य उपलब्ध होते हैं—

(१) माधव—इन्होंने पूरी सामसंहिता पर अपना भाष्य लिखा है। 'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये'—कादम्बरी का यह मंगल-श्लोक माधव के 'सामविवरण' में मिलता है। यह कहना कठिन है कि यह पद्य किसका है। जो कुछ हो, इनका समय सप्तम या अष्टम शतक प्रतीत होता है। साम का यही पहिला भाष्य है। ये सामवेद के विभिन्न सम्प्रदायों से परिचित हैं अतः इनका भाष्य नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) भरतस्वामी—ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। दक्षिण भारत के राजा वीर रामनाथ के शासन काल में यह भाष्य लिखा गया। यह भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। पूर्ववर्ती भाष्यकार माधव से इसमें पर्याप्त सहायता ली गई है। ये दोनों भाष्य हाल ही में मद्रास विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किये हैं।

(३) गुणविष्णु—इनके साममन्त्र व्याख्यान का नाम मिथिला तथा बंगाल में बहुत अधिक है। उन देशों के सामवेदियों के नित्य-नैमित्तिक कार्य के उपयोगी साममन्त्रों की इन्होंने व्याख्या की है। **छान्दोग्य मन्त्र भाष्य** का सुन्दर संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

साम के ब्राह्मणों पर भी सायण से पहले कई आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं। हरिस्वामी के पुत्र जयस्वामी ने ताण्ड्य ब्राह्मण पर, गुणविष्णु ने मन्त्र ब्राह्मण पर, भास्कर मिश्र ने आर्षेय ब्राह्मण पर तथा भरत स्वामी ने सामविधान पर अपने भाष्यों की रचना की है। पाठकों को याद दिलाना न होगा कि सायण ने इन आठों ब्राह्मणों पर सुबोध भाष्य लिखे हैं।

काण्व-संहिता-भाष्य

सायणाचार्य के पीछे अनन्ताचार्य, आनन्द बोध आदि अनेक विद्वानों ने

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता पर अनेक भाष्य बनाए, परन्तु सायण के पूर्ववर्ती प्रधान लेखकों में हलायुध ने इस संहिता पर अपना भाष्य लिखा। इस भाष्य का नाम ब्राह्मण सर्वस्व है। इसके आरम्भ में हलायुध ने अपने विषय में कुछ वृत्त दिया है जिससे जान पड़ता है कि वे बंगाल के अन्तिम हिन्दू नरेश सुप्रसिद्ध लक्ष्मणसेन के दरबार में धर्माधिकारी के गौरव-पूर्ण पद पर प्रतिष्ठित थे। यह पद उन्हें जवानी ढलने पर मिला था। वे इसके सर्वथा योग्य थे। बाल्यकाल में वे राजपण्डित हुए। चढ़ती जवानी में ही श्वेत छत्र धारण करने का अधिकार तथा मान उन्हें दिया गया। अन्तिम समय में वे राजा के धर्माधिकारी बने—

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्वेतार्चिबिम्बोज्ज्वल—
च्छत्रोत्सिक्तमहामहस्तनुपदं दत्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः,
श्रीमान् लक्ष्मणसेन देवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ॥

राजा लक्ष्मणसेन के साथ इस सम्बन्ध से इनका समय सरलता से जाना जा सकता है। लक्ष्मणसेन ने बड़ी योग्यता से गौड देश का शासन किया था। सुप्रसिद्ध लक्ष्मण संवत् (लं० सं०) के चलानेवाले ये ही विद्याप्रेमी महाराज हैं। ११७० ई० के लगभग इन्होंने अपने विख्यात पिता बल्लाल सेन के बाद सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया। लगभग ३० वर्ष तक ये राज्य करते रहे। १२०० ई० में इनके राज्य का अन्त हुआ[1]। अतः इनका समय वि० सं० १२२७—१२५७ तदनुसार ई० सन् ११७० से १२०० तक है। लक्ष्मणसेन के धर्माधिकारी होने के कारण हलायुध का भी यही समय समझना चाहिए। अतः हलायुध का काल विक्रम की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

हलायुध अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक विद्वान् थे। ब्राह्मण-सर्वस्व के अतिरिक्त मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व तथा पण्डित सर्वस्व आदि ग्रन्थ हलायुध की लेखनी से उत्पन्न हुए। इससे ये न केवल वेद तथा मीमांसा के ही मान्य पण्डित प्रतीत होते हैं, प्रत्युत आगम—विशेषतः वैष्णव तथा शैव आगम—के भी मर्मज्ञ जान पड़ते हैं। अतः ऐसे योग्य व्यक्ति का राज्य के धर्माधिकारी का पद सुशोभित करना नितान्त उचित था।

---

[1] स्मिथ : प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ४०३-४०७ (तृतीय संस्करण)

अथर्व-संहिता का भाष्य पहले पहल सायण ने ही प्रस्तुत किया। इनके पहिले किसी भी विद्वान् ने इस वेद की संहिता पर भाष्य नहीं लिखा। सायण ने पूरी संहिता पर भाष्य लिखा था, परन्तु छपे हुए ग्रन्थों में केवल १२ काण्डों का ही भाष्य मिलता है। इस प्रकार सायण-भाष्य भी अधूरा ही है

शतपथ भाष्य—शतपथ दोनों शाखाओं—माध्यन्दिन तथा काण्व-में मिलता है। (१) **काण्व शतपथ** पर भाष्य महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने किया था। भाष्य तो मिलता नहीं, केवल उसका निर्देश वनपर्व के १६२ अ० के ११वें श्लोक की टीका में उन्होंने स्वयं किया है।

(२) माध्यन्दिन शतपथ—सुनते हैं उव्वट ने इस पर टीका लिखी थी। इनसे बहुत पहिले हरिस्वामी ने पूरे शतपथ पर अपना भाष्य बनाया था, जो आजकल पूरा नहीं मिलता। ये बड़े भारी वैदिक थे। ये पराशरगोत्रीय नागस्वामी के पुत्र तथा अवन्ति के राजा विक्रम के धर्माध्यक्ष थे। सौभाग्य से इनके भाष्य में रचना-काल का निर्देश है। भाष्य का निर्माण ३७४० कलिवर्ष अर्थात् ५३८ ई०) में हुआ था, जिससे स्पष्ट है कि ये विक्रम की षष्ठ शताब्दी में विद्यमान थे। यह भाष्य प्राचीन तथा प्रामाणिक है।

दशम परिच्छेद

वेदानुशीलन में सायण का महत्त्व

वेद का महत्त्व और लक्षण

वेद हमारे सनातन धर्म के सर्वस्व हैं, इसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वेद में निहित बीजों को ही लेकर कालान्तर में भिन्न-भिन्न दर्शनों की रचना हुई और नाना प्रकार के मत-मतान्तरों की उत्पति भारत में हुई, यह प्रत्येक विद्यासम्पन्न व्यक्ति को विदित है। वेदत्व का लक्षण हमारे नव्य नैयायिकों ने बड़ी ही पेचेदी भाषा में किया है। जिसकी दुरुहता के कारण इस साधारण संस्कृतज्ञ के हेतु लिखे गए ग्रन्थ में उद्धृत करना उचित नहीं प्रतीत होता। सायण ने तैत्तिरीयसंहिता की भाष्यभूमिका में जो लक्षण लिखा है वह प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ दिया जाता है। वे कहते हैं कि 'इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए अलौलिक उपाय को बतलाने वाला ग्रन्थ ही वेद है।' अलौकिक उपाय को बतलाना वेद का काम है, इस कथा से प्रत्यक्ष और अनुमान की व्यावृत्ति हो जाती है। ज्योतिष्टोम, अग्निहोत्र आदि यज्ञों के अनुष्ठान से इष्ट फल की प्राप्ति होती है तथा कलञ्ज भक्षण करने से अनिष्ट की उत्पत्ति होती है। अतः ज्योतिष्टोम की विधि और कलञ्ज भक्षण के निषेध के लिए हजारों अनुमान तार्किकशिरोमणि भी करें, परन्तु वेद के अतिरिक्त उस नियम निषेध का पता लग ही नहीं सकता, क्योंकि इन अलौकिक साधनों के विषय में हमारे भौतिक जगत के ऊपर अवलम्बन करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण नितान्त मौन है और उसी प्रकार प्रत्यक्ष के ऊपर आश्रित होनेवाला अनुमान प्रमाण भी। इसी कारण अलौकिक साधन के बोधक ग्रन्थ को वेद के नाम से पुकारते हैं। इसीलिए वेद के विषय में कहा गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेद की वेदता इसी कारण से है कि जो उपाय प्रत्यक्ष या अनुमिति

की सहायता से न मालूम पड़े उसे स्पष्ट रूप से बतलाना। इस प्रकार वेद की विशिष्टता अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा स्वतः सिद्ध है। वेद को हम आर्य लोग ईश्वर वाणी मान कर नित्य पूजते हैं। मीमांसकों और नैयायिकों के बीच में इस विषय को लेकर गहरा मतभेद है। मीमांसक इन्हें अपौरुषेय मानते हैं। उनकी सम्मति में शब्द स्वयं नित्य होता है। अतः वेद के प्रकाशन के लिए पुरुष—ईश्वर—के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत नैयायिकों ने इसे ईश्वर कर्तृक अर्थात् पौरुषेय मानने के लिये अनेक अनुमान प्रकार का प्रदर्शन किया है। हम भी पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व के गहरे तल की छान-बीन किए बिना भी कह सकते हैं कि उनकी नित्यता के विषय में हमारे ग्रन्थकारों में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं दीख पड़ता।

हम लोग वेदों को अनादि मानते आये हैं और आज भी मानते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वान इनकी रचना के काल बतलाने के लिये विशेष परिश्रम कर इन्हें अत्यन्त अर्वाचीन प्रमाणित करते हैं। एक समय ऐसा था जब वेदों की रचना आज से चार हजार वर्षों के भीतर ही मानी जाती थी, परन्तु इधर वैदिक विद्वानों ने काल-विषयक प्रमाणों की बड़ी छान-बीन की है और भूशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर इनका काल लाखों वर्षों का बतलाया है। ज्यौतिष सम्बन्धी आधारों से लोकमान्य तिलक तथा जर्मन विद्वान् याकोबी ने ऋग्वेद का समय आज से आठ हजार वर्ष प्राचीन माना था। परन्तु इधर अविनाशचन्द्र दास ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' नामक ग्रन्थ में भूशास्त्र सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर ऋग्वेद का समय लाखों साल पुराना बतलाया है। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित-सा जान पड़ता है कि वेदों का समय नितान्त प्राचीन है और भूमण्डल के समस्त ग्रन्थों से भी इनके प्राचीन होने में कोई भी आपत्ति नहीं दीख पड़ती। अतः इतने प्राचीन वेदों के अर्थ के ज्ञान के लिए कौन-सा समुचित साधन हो सकता है?

सायणाचार्य की कृपा से हमारे पास चारों वेदों की संहिताओं, कतिपय ब्राह्मणों और आरण्यकों के ऊपर प्रामाणिक भाष्य हैं। इन भाष्यों की महत्ता की परीक्षा करना अब हमारा प्रधान कार्य होगा। सायण ने इन भाष्यों में जिस व्याख्या-शैली का प्रधानतया अनुसरण किया है; वह शैली कहाँ तक माननीय है और उसके अङ्गीकार करने से आजकल के वेदाध्ययन में कितनी सहायता मिल सकती है? इस शैली का अनुसरण करना सम्प्रति उपादेय

होगा या नहीं ? इन्हीं प्रश्नों का समुचित उत्तर देना इस पच्छिेद का प्रधान विषय होगा।

वेद का अर्थानुसन्धान करने के लिये समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियों का आविर्भाव हुआ है तथा इस समय में भी पाश्चात्य विद्वानों ने इसके अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक विचित्र ही पद्धति का जन्म दिया है। वेदों की प्राचीनता सिद्ध ही है। ये केवल आर्य जाति के ही सब से प्राचीन धर्म-ग्रन्थ नहीं हैं, वरंच समग्र मानव जाति के इतिहास में ये ही सर्वप्राचीन ग्रन्थ प्रमाणित हुए हैं। अतएव इतनी प्राचीनता के कारण इनकी दुरूहता स्वयंसिद्ध-सी है। प्रायः समसामयिक ग्रन्थों के भाव तथा भाषा की तुलना करने पर किसी ग्रन्थ का अर्थानुचिन्तन किया जाता है, परन्तु वेदकालीन किसी अन्य ग्रन्थ के अभाव में इसके भाव तथा भाषा की तुलना अर्थ प्राप्ति के उद्देश्य से किस के साथ की जाय? इतने प्राचीन होने के कारण अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग व्यवहार से सदा के लिये जाता रहा। इतना ही नहीं उनकी गम्भीरता भी दुरूहता का कारण है। वेदों में हमारे सनातन धर्म के सब तत्त्वों का, सब दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का बीजरूप से निर्देश किया गया है। अतः यदि उनके वास्तविक अर्थ के विषयों के लिए विद्वानों में प्रबल तथा गहरा मतभेद हो तो इसमें विस्मय के लिए स्थान नहीं है।

वेदार्थानुसन्धान के विषय में आज कल प्रधानतया तीन मत मिलते हैं, जिनमें से पहला मत पाश्चात्य वैदिक अनुसन्धान कर्ताओं का है और अन्य दो मत इसी भारत के वैदिक विद्वानों का। इन तीनों मतों के गुण-दोष विवेचनपूर्वक सच्चे अर्थ की प्राप्ति के लिये ग्राह्य पद्धति का विचार उपस्थित किया जायगा और सायण का महत्त्व इस विषय में कितना अधिक है, इसका भी विचार आगे किया जायगा। हम आरम्भ पहले पाश्चात्य पद्धति से ही करते हैं जिसका विवेचन यूरोप और अमेरिका के वेदानुशीली स्कालरों ने किया है। इन पण्डितों का हम भारतीयों के ऊपर बड़ा उपकार है। इन लोगों ने भारतीय ग्रंथों के प्रकाशन करने में अपना अमूल्य समय और अर्थ लगाया है तथा इनकी बहिरङ्ग परीक्षा करने में विशेष अध्यवसाय और गाढ अनुराग का परिचय दिया है। इनका विद्या प्रेम श्लाघनीय है। इनके कारण की हमारे धार्मिक ग्रंथों के अच्छे-अच्छे संस्करण आज उपलब्ध

हो रहे हैं। अतः हम इनके उपकार को मानते हैं और उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं।

यूरोपियन तथा अमेरिकन संस्कृतज्ञों ने बड़े परिश्रम से हमारे वैदिक साहित्य का अध्ययन किया है तथा वैदिक ग्रन्थों के अतीव शुद्ध संस्करण भी प्रकाशित किया है। इस विषय में सबसे पहला नाम प्रोफेसर मैक्सम्यूलर का है जिन्होंने सन् १८४९ से लेकर १८७५ ई० तक अर्थात् लगभग छब्बीस वर्षों में ऋग्वेद का सायण-भाष्य के साथ अत्यन्त विशुद्ध संस्करण ६ जिल्दों में निकाला। डाक्टर वेबर ने यजुर्वेद की दोनों संहिताओं का, डाक्टर बेनफी ने सामवेद का तथा डाक्टर राथ तथा व्हिटनी ने मिलकर अथर्व संहिता का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया। कई ब्राह्मणों के भी सुन्दर संस्करण यूरोप से निकले हैं। वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रचुरता के साथ किये गये मिलते हैं। सबसे पहले डाक्टर विल्सन ने ऋग्वेद का अनुवाद १८५० ई० में सायणभाष्य के आधार पर करना आरम्भ किया, परन्तु इसे पूरा नहीं किया। इसके अनन्तर जर्मनभाषा में ऋग्वेद के दो अनुवाद निकले। १८७६—७७ ईस्वी में डा० ग्रासमान ने दो जिल्दों में ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद भारतीय टीकाकारों की उपेक्षा करके शुद्ध पाश्चात्य पद्धति पर किया। उसी समय डा० लुडविग ने गद्यात्मक अनुवाद छः जिल्दों में १८७६—८८ ई० के बीच उपयोगी व्याख्या के साथ प्रकाशित किया। काशी के क्वीन्स कालेज के अध्यक्ष डा० ग्रिफिथ साहब ने भी चारों वेदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त डा० कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का, डा० व्हिटनी और लैनमैन ने अथर्व संहिता का टिप्पणी के साथ-साथ अनुवाद किया है। अन्य वैदिक ग्रन्थों के भी अनुवाद हैं। साथ ही साथ वैदिक साहित्य, धर्म, सभ्यता आदि के भी विस्तृत अनुसन्धान-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार पाश्चात्यों का वेदानुशीली हिन्दुओं के ऊपर उपकार का भार कम नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों का अध्यवसाय

इतना होने पर भी इनकी उद्भावित पद्धति भी तादृश दोषरहित तथा प्रामाणिक है इसे मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं। इनका कहना है कि वेदार्थानुशीलन के लिए तुलनात्मक भाषा शास्त्र तथा इतिहास की

आवश्यकता तो है ही, साथ ही साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीति-रिवाज का भी अध्ययन अपेक्षित है क्योंकि इन दोनों की पारस्परिक तुलना ही हमें वैदिक धर्म के मूल स्वरूप का परिचय दे सकती है। इसी कारण इसे Historical methood (ऐतिहासिक पद्धति) के नाम से पुकारते हैं। और भारतीय परम्परा? इसके विषय में ये लोग अत्यन्त उदासीन हैं। इनका तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय व्याख्याता परम्परा का पक्षपाती होने से मूल अर्थ तक पहुँच ही नहीं सकता। अतः ब्राह्मण टीकाकार के ऊपर ये लोग अन्धश्रद्धा का आक्षेप लगाते हैं और राथ आदि प्राचीन वेदानुशीली पाश्चात्य पण्डित उसे वेदों के अर्थ करने के लिए सर्वथा अयोग्य ठहराते हैं। और योग्य किसे बतलाते हैं? उस यूरोपियन को, जो भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होकर भी भाषाशास्त्र, मानवशास्त्र, आदि आदि विषयों की जानकारी रखता है।

पाश्चात्य पद्धति के गुण दोष

इस पद्धति में कुछ गुणों के रहते हुए भी अवगुणों और दोषों की ही भरमार है। वेदों का आविर्भाव इस आर्यावर्त में हुआ। वेदों में निहित बीजों को लेकर ही कालान्तर में प्रणीत इस आर्यावर्त ने अनेक स्मृतियों की रचना देखी, अनेक दर्शनों का प्रादुर्भाव देखा और अनेक धर्मों के उत्थान तथा पतन का अवलोकन किया, अतः वेद हमारी वस्तु है। हमारे ऋषियों ने—आत्मज्ञानी विद्वानों ने, तत्त्वों के साक्षात्कर्ता महर्षियों ने—उनका जिस रूप में दर्शन किया, जिस प्रकार उनके गूढ़ रहस्यों को समझा और समझाया, उसी रूप में उन्हें देखना तथा उसी तरह उनको समझना दुरूह श्रुतियों का वास्तविक अनुशीलन कहा जा सकता है। इस विषय में आगे चलकर अन्य ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जायगा। इस प्रकार वेदों से भारतीयता निकाल कर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दुःसाहस करना 'मूले कुठाराघातः' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है। इस प्रकार वेदों के अर्थ कर के तदनुसार वैदिक आर्यों के विषय में इन लोगों ने विचित्र और अनर्गल बातें तक कह डाली हैं। उदाहरण के लिए हम एक ही बात की परीक्षा यहाँ करेंगे। वैदिक काल में इस आर्य भूमि में लिङ्गपूजा थी कि नहीं? वैदिक काल में इन विद्वानों ने जिस शब्द के बल पर उसकी सत्ता बतलाई है वह शब्द है

शिश्नदेव, जो ऋग्वेद में दो जगह (७।२१।५[1], १०। ६६।३[2] आया है। पश्चिमी विद्वानों ने इस शब्द के उत्तर भाग को अभिधा-प्रधान मान कर इसके द्वारा यही अर्थ निकाला है कि उस समय लिङ्ग पूजा होती थी। परन्तु क्या वास्तव अर्थ यह है ? सच तो यह है कि यहाँ 'देव' शब्द आलङ्कारिक अर्थ में (देव के समान) व्यवहृत हुआ है। वेद के पितृदेव, मातृदेव, आचार्य देव आदि शब्द इसी श्रेणी के शब्द है। पर इनका अर्थ माता को पूजनेवाला या पिता आचार्य को पूजनेवाला है ? तैत्तिरीय उपनिषद् (१।१) में 'मातृदेवो भव' क्या इस अर्थ में आया हुआ है ? वहाँ तो यही अर्थ है माता को देवता की तरह मानो जानो। इसकी व्याख्या में शङ्कराचार्य ने 'देवतावत् उपास्या एते इत्यर्थः' यही लिखा है। अतः इस श्रेणी के शब्दों का अर्थ इसी प्रकार होना चाहिए। 'श्रद्धादेव' शब्द 'शिश्नदेव' से भिन्न नहीं है। अतः दोनों में 'देव' को आलङ्कारिक ही मानना उचित है। ऐसी दशा में 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ हुआ—शिश्न (लिंग) है देवता जिसका अर्थात् कामक्रीड़ा में निरत पुरुष। इसीलिए यास्क तथा सायण ने इस शब्द का अर्थ 'अब्रह्मचर्य' किया है। अतः भारतीयों ने संस्कृत भाषा के व्यवहार के अनुकूल ही इसका परम्परागत अर्थ 'अब्रह्मचर्य' ही माना है, परन्तु साहबों ने इस प्रयोगमूलक परम्परागत अर्थ की अकारण उपेक्षा करके अप्रामाणिक तथा निर्मूल सिद्धान्त की उद्भावना की है। इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र के 'कूर्म पित्तमङ्के निधाय जपति' का अनुवाद करते समय जब जर्मन विद्वान् ओल्हुन बर्ग 'कूर्मपित्त' शब्द के 'जलपूर्ण शराव' (घड़े) वाले परम्परागत अर्थ की हँसी उड़ाते हुए, 'कूर्म' (कछुए) के पित्त को गोदी में रखकर जपने की व्यवस्था देते हैं, तब हम आपको क्या कहें ? गृह्य पद्धति से परिचित ब्राह्मण टीकाकारों के अर्थ में हम आस्था करें अथवा गृह्य से अपरिचित अहिन्दू जर्मन के अर्थ को हम प्रमाण कोटि में मानें ? यदि इस तरह विचित्र शब्दों को हम एकत्रित करें तो एक बड़ा पोथा तैयार हो सकता है।

यह तो हुई अर्थ करने में गड़बड़ी। अब शब्दों के तोड़ मरोड़ करने

---

[1] **न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठवेद्याभिः**
स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः ॥

[2] **अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत् ॥**

में भी ये पीछे नहीं हैं। हमारे मन्त्रों में पाठभेद की गुंजायश तो लेशमात्र भी नहीं है, क्योंकि इनके संरक्षण करने में आर्यों ने कितने ही प्रकार की युक्तियों से काम लिया है। पदपाठ, क्रम-पाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि पाठों की कल्पना करके मन्त्रों के प्रत्येक पद के स्वरूप को निश्चित किया गया है, जिससे वर्णविभेद को कौन पूछे ? सूक्ष्म स्वर में भी परिवर्तन के लिये स्थान नहीं है। ऐसी दशा में मन्त्रों में पाठ-भेद की कल्पना करना नितान्त अनुपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु इन पाश्चात्य वैदिकों ने स्वकल्पित अर्थ की सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के विचित्र, अश्रुतपूर्व और अविचारित रमणीय पाठों की मनमानी उद्भावना की है। डाक्टर आर्नाल्ड साहब ने, जिन्होंने वैदिक छन्दों की परीक्षा करने के लिये वैदिक मीटर (वैदिक छन्द) नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, यही लिखा है कि जहाँ-जहाँ 'पवाक' शब्द आया हुआ है, वहाँ सर्वत्र छन्द की विषमता को बचाने के हेतु 'पावक' पाठ होना चाहिए और कभी होता भी था। परन्तु अश्रान्त परिश्रम से प्राचीन मन्त्रोच्चारण को यथातथ्य रूप से बनाये रखनेवाले हमारे वैदिक इस शब्द के इस काल्पनिक परिवर्तन से सर्वथा अपरिचित हैं। इस दशा में यह साहबी पाठभेद कहाँ तक मान्य हो सकता है ? किसी काल्पनिक अर्थ की सिद्धि के लिये मन्त्रों के पदों में मनमानी परिवर्तन करना कहाँ तक न्यायसङ्गत हो सकता है ? इसे संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं विचारकर देखें और समझें। परन्तु सौभाग्य वश वहाँ अब हवा बदली है, उनका रुख पलटा है। अब ये लोग भी भारतीय अर्थ को उपेक्षा की सीमा के भीतर ले जाना नहीं चाहते। फिर भी हमें बाध्य होकर यही कहना पड़ता है कि पाश्चात्य विद्वानों के बहिरङ्ग परीक्षा के ढंग की सराहना करते हुये भी हम लोग न तो उनकी अर्थानुसन्धान-पद्धति को निर्दोष मानते हैं और न इसे सर्वांश रूप में ग्रहण करने के ही पक्षपाती हैं।

वैदिक शब्दों की पाठ कल्पना

अब दूसरी पद्धति की रूप रेखा का निरीक्षण तथा परीक्षण कीजिए। इस पद्धति के उद्भावक भारत के प्रसिद्ध धर्मसुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी थे। इसके अनुकूल आपने ऋग्वेद के अनेक मण्डलों के ऊपर अपना नवीन भाष्य भी बनाया था। ऋग्वेद के लगभग दो तिहाई भाग पर आप का भाष्य है और यजुर्वेद की पूरी संहिता के ऊपर। स्वामी जी के निधन के अनन्तर

स्वामी दयानन्द सरस्वती की पद्धति

समाज में अन्य वैदिक विद्वानों की कमी नहीं हुई और स्वामी जी का उद्दिष्ट कार्य विशेष अंश में परिपूर्ण-सा दिखाई पड़ता है। अजमेर के वैदिक यंत्रालय ने चारों संहिताओं को तथा शतपथ ब्राह्मण को सुलभ मूल्य में छापकर प्रकाशित कर बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। आजकल अजमेर से ही अथर्ववेद का भाष्य हिन्दी में बड़े ठाट बाट से प्रकाशित हुआ है। इतना ही नहीं, आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् आर्यमुनि जी ने ऋग्वेद के अवशिष्ट भाग पर अपनी नवीन टीका लिखकर स्वामी दयानन्द के कार्य की एक प्रकार से पूर्ति कर दी है। औंध के महाराष्ट्रीय आर्यसमाजी पण्डित सातवड़ेकर ने विभिन्न संहिताओं का विशुद्ध संस्करण प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार किया है। उन्होंने वेद के ऊपर, विशेषतः अथर्व पर, स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है जिसका आदर और प्रचार आर्य-समाज की प्रेमी जनता में विशेष रूप से है। गुरुकुल से सम्बद्ध अन्य अनेक विद्वानों ने भी वेद के विभिन्न भागों पर विशेष परिश्रम के साथ ग्रन्थ लिखा है। इस प्रकार आर्य समाज ने वेद प्रचार में बहुत कुछ योगदान किया है, इसके लिए वे हमारी श्रद्धा के भाजन हैं।

स्वामी जी ने अपने भाष्य में अनेक विशिष्ट बातों का उल्लेख किया है। इस भाष्य में वेदों के अनादि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। आपकी दृष्टि में वेद में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदों के सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ हैं, रूढ नहीं— यह सिद्धान्त स्वामी जी की अर्थनिरूपण-पद्धति की आधार-शिला है। जितने इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता वाचक शब्द हैं वे यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक हैं। स्वामी जी इस प्रकार आध्यात्मिक शैली के माननेवाले हैं। अंशतः यह सिद्धान्त ठीक है। निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जितने देवता हैं वे सब एक ही महान् देवता—परमेश्वर—की विशिष्ट शक्ति के प्रतीक मात्र हैं—"महाभाग्यात् देवाताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति" (निरुक्त ७। ४)। ऋग्वेद का स्पष्ट प्रतिपादन है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ० सं० १। १६४ ४६)। अतः अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना सर्वथा उचित है। यहाँ तक किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं हो

पद्धति के गुण-दोष

सकती; परन्तु जब इस शैली के अनुसार अग्नि आदि देवताओं की सत्ता ही बिल्कुल नहीं मानी जाती, तब आपत्ति का उदय होता है। यास्क के मतानुसार वैदिक मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों अर्थ तीन जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और तीनों यथार्थ हैं। प्रत्येक मन्त्र भौतिक अर्थ को बतलाता है; किसी देवता विशेष को भी सूचित करता है साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ का भी बोधक है। अतः अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों को केवल परमेश्वर वाचक मानना तथा विशिष्ट देवता का सूचक न मानना उचित नहीं है। 'अग्नि' शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है जिसकी कृपा से इस जगत् का समस्त व्यवहार सिद्ध होता है। यह शब्द उस देवता का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है। साथ ही साथ वह इस जगत् के नियामक परमेश्वर के अर्थ को भी प्रकट करता है। अग्नि के ये तीनों रूप ठीक हैं और सूक्ष्म विवेचना करने पर अग्निमन्त्र तीनों रूपों को समभावेन लक्षित करते हैं। अतः प्रथम दो रूपों की उपेक्षा कर अग्नि को केवल परमात्मा का ही बोधक मानना प्राचीन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस शैली का सर्वथा अनुकरण हमें मान्य नहीं है।

स्वामी जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों को संहिता के समान अनादि तथा प्रामाणिक नहीं माना है। श्रुति के अन्तर्गत ब्राह्मणों की गणना उन्हें मान्य नहीं है। तब संहिता के स्वरूप देखने से यह सिद्धान्त हृदयंगम नहीं प्रतीत होता। तैत्तिरीय संहिता में मन्त्रों के साथ-साथ गद्यात्मक ब्राह्मण अंश भी उपलब्ध होता है। तब तैत्तिरीय संहिता के एक अंश को श्रुति मानना और तदन्तर्गत ब्राह्मण भाग को श्रुति न मानना कहाँ तक न्याय्य होगा ? स्वामी जी के अनुयायी वैदिक पण्डितों की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार, वायुयान आदि) की सत्ता बतलाई जाती है। तब क्या वेद की महिमा इसी में है कि विज्ञान की समग्र वस्तुओं का वर्णन उसमें उपलब्ध हो। वेद आध्यात्मिक ज्ञान के निधि हैं। भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन करना उनका वास्तव उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार स्वामी जी की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकृत नहीं कर सकते।

परम्परा का महत्त्व

वेद के समुचित अर्थ का पता कैसे चल सकता है ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर है भारतीय परम्परा। भारतीय साहित्य तथा अन्य साहित्यों में भी ऐसे ग्रन्थरत्न मिलते हैं जिनके वास्तविक अर्थ का प्रकाश विना तद्देशीय परम्परा की पूरी जानकारी किये नहीं हो सकता। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं, ज्ञानेश्वरी ही को ले लीजिये। इसकी रचना हुये केवल सात सौ ही वर्ष हुए, परन्तु यह इतनी गूढ़ार्थमयी मानी जाती है कि इसके भीतर निहित रहस्यों का उद्घाटन उस परम्परा के जानकार विद्वान् की सहायता विना हो ही नहीं सकता। इसी कारण महाराष्ट्रीय सन्त गुरुमुख से इसका वास्तविक अर्थ समझने का प्रयत्न करते हैं और इसके परम्परागत अर्थ के जाननेवाले विद्वान् ही इसके ठीक-ठीक अर्थ के निरूपण करने में समर्थ होते हैं। अपने यहाँ भी तुलसीदास के रामचरित मानस की भी ऐसी ही दशा है। जब इतने आधुनिक ग्रन्थों के भी रहस्यों का उद्घाटन तत्तत्परम्परा का जानने वाला ही विद्वान् कर सकता है, तब सुदूर प्राचीन काल में ऋषियों के अन्तःकरण में तत्त्वरूप से उद्भूत होने वाली भगवान् की रहस्यमयी वाणी रूपिणी श्रुति के अर्थ का विवेचन तत्तत्परम्परा का ज्ञाता ही कर सकता है, इसमें क्या आश्चर्य ? अतः परम्परा का आश्रय वेदार्थानुशीलन में परम आराधनीय है।

सायणाचार्य ने अपने भाष्यों में इसी भारतीय परम्परा को अपनाया है, इसीलिये उनकी व्याख्या का विशेष महत्त्व है। सायण ने अपनी व्याख्या प्राचीन आचार्यों के आधार पर ही लिखी है। बहुतों ने, प्रायः यूरोपियन पण्डितों ने, सायण की अर्वाचीनता के कारण उनकी व्याख्या में परम्परा के पालन करने में सन्देह प्रकट किया है, परन्तु प्राचीन परम्परा के सायण तक अविच्छिन्न रूप से चले आने के प्रबल प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। अतः उनके सन्देह का निराकरण शीघ्र ही किया जा सकता है। परिच्छेद में दिखलाया गया है कि स्कन्द स्वामी ने छठीं शताब्दी के लगभग ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य लिखा था। स्कन्द स्वामी के साथ सायण की तुलना करने पर दोनों ही एक ही अभिन्न परम्परा के पालन करनेवाले स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। दोनों के भाष्यों में व्याख्या की समानता बनी हुई है। सायण का समय स्कन्द स्वामी से लगभग आठ सौ वर्ष पीछे है; काल में इस प्रकार अन्तर होने

पर भी उनकी व्याख्याओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है; अतः स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि दोनों एक ही परम्परा के अनुयायी हैं। इतना ही क्यों ? सायण ने निरुक्तकार यास्क के मत का उल्लेख अपने भाष्यों में यथावकाश सैकड़ों बार किया है। यास्क के द्वारा की गई व्याख्या को सायण ने अपने भाष्य में अविकल रूप से उद्धृत किया है और अपनी व्याख्या को भी तदनुरूप ही रखा है। यास्क की शब्द-व्युत्पत्ति सायण को भी मान्य है। अतः यास्क ने जिस परम्परा का पालन अपने निरुक्त में मन्त्रों के अर्थ करने में किया है उसी का अनुसरण जब हमें सायण भाष्य में भी मिलता है, तब हम परम्परा अविच्छिन्न क्यों न मानें ?

यास्क ने स्वयं परम्परा की प्रशंसा की है और उसके जाननेवाले को 'पारोवर्यवित्' कहा है। निरुक्त (१३।११) का कहना है :—

"अयं मन्त्राभ्यूहोऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽतितर्कतः",

अर्थात्—मन्त्र का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया है। क्योंकि—

"न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः"

मन्त्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् करके न होनी चाहिए, बल्कि प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिए।

"न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा"

वेदों का अर्थ कौन कर सकता है ? इसके विषय में यास्क का कहना है कि जो मनुष्य न तो ऋषि है न तपस्वी, वह मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्।"

यह पहले ही कहा जा चुका है (निरुक्त १।१६) कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करनेवालों में वह श्रेष्ठ है जिसने ज्यादा अध्ययन किया है।

अतः परम्परा तथा मीमांसा, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों की जानकारी वेदार्थ जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

यास्क ने कम से कम आठ-नौ मतों की चर्चा की है। वैयाकरण, नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मन्त्रों की व्याख्या में किया है। कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इन विभिन्न आचार्यों के मतों को हम अप्रामाणिक मानें, क्योंकि इनका उल्लेख ब्राह्मण

ग्रन्थों में भी प्रचुरता से मिलता है। उदाहरण के लिए 'अश्विनौ' को ले लीजिये। इनके विषय में यास्क ने अनेक मतों का निर्देश किया है। कुछ लोगों के मत में दोनों अश्विन् स्वर्ग और पृथिवी हैं। इस मत का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और यास्क का अपना मत भी उसी स्थान पर निर्दिष्ट है। अतः इन विभिन्न आचार्यों के मतों की प्रामाणिकता स्पष्ट है। इतना ही क्यों ? यास्क की अधिकांश व्याख्यायें और व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मणों के ही आधार पर हैं। इसलिए उन्हें परम्परागत होने में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है।

कालान्तर में जब वेद की भाषा का समझना नितान्त दुरूह हो गया, तो सीधी-सादी बोल चाल की भाषा में वेद के रहस्यों का प्रतिपादन हमारे परम कारुणिक ऋषियों ने स्मृतियों तथा पुराणों में संसार के उपकार के लिए किया। अतः स्मृति तथा पुराण प्रतिपादित सिद्धान्त

स्मृति का महत्त्व

वेदों के ही माननीय सिद्धान्त हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। वेदों में आस्था रखनेवाले सज्जनों को पुराणों के विषय में श्रद्धाहीन होना उचित नहीं है क्योंकि केवल भाषा तथा शैली के विभेद को छोड़ देने पर हमारे इन धर्मग्रन्थों में किसी प्रकार का भी भेद भाव नहीं है। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही कालान्तर में पुराणों में सन्निविष्ट किये गये हैं। शैली का भेद अवश्य ही दोनों में वर्तमान रहनेवाली एकता को आपाततः खण्डन करनेवाला प्रतीत होता है,परन्तु वास्तव में वेद और पुराण में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध परिलक्षित नहीं होता। वेदों में रूपक का प्रचुर उपयोग देखते हैं, तो पुराणों में अतिशयोक्ति का। वेदों में जो बातें रूपकमयी भाषा के लपेट में कही गई हैं, वे ही बातें पुराणों में अतिशयोक्तिमयी वाणी के द्वारा प्रकट की गई हैं। एक ही उदाहरण इस शैली भेद को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। ऋग्वेद के अनेक मण्डलों में इन्द्र की स्तुति में वृत्र के साथ उनके भयंकर संग्राम का उल्लेख किया गया है। ये वृत्र कौन हैं ? जिनके साथ इन्द्र का युद्ध हुआ। यास्क ने निरुक्त में (२।१६) वृत्र के विषय में अनेक प्राचीन मतों का निर्देश किया है[१]। इनमें नैरुक्तों का ही मत मान्य माना जाता है। इस व्याख्या के

---

[१] तत् को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिकाः।

द्वारा हम ऋग्वेद के इन्द्र-वृत्र-युद्ध के भौतिक आधार को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। आकाश को चारों ओर से घेरनेवाला मेघ ही वृत्र है और उसको अपने वज्र से मारकर संसार के जीव जन्तुओं को वृष्टि से तृप्त कर देने वाले 'सप्तरश्मिः वृषभः' इन्द्र वर्षा के देवता हैं और प्रति वर्षाऋतु में गगन मण्डल में होनेवाला यह भौतिक संग्राम ही इन्द्र-वृत्र-युद्ध का परिदृश्यमान भौतिक दृश्य है। इसी का वर्णन 'रूपक' के द्वारा ऋग्वेद में किया गया है। और पुराणों में क्या है? वहाँ इन्द्र महाराज देवताओं के अधिपति बतलाये गये हैं और वृत्र असुरों या दानवों का राजा। दोनों प्रबल प्रतापी हैं। दोनों अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर आते हैं, देवताओं को भी रोमाञ्च कर देनेवाला संग्राम होता है और अन्त में वृत्र के ऊपर इन्द्र की विजय होती है। इस संग्राम का वर्णन बड़े विस्तार के साथ पुराणों में पाया जाता है, विशेष कर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में। परन्तु क्या यह वर्णन अतिशयोक्तिमयी भाषा में रहने पर भी वेदवाले वर्णन से किसी प्रकार सिद्धान्त में भिन्न है? नहीं, वह तो एक ही घटना है जो इन भिन्न ग्रन्थों में भाषा और शैली के भेद के साथ प्रतिपादित की गई है। यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसने पुराणों में इस घटना का इतना रोचक सूक्ष्म वर्णन कर रखा है वह वेद के रूपक के भीतर छिपे हुये सिद्धान्त से अपरिचित है। पुराण तो वेद के ही अर्थों और सिद्धान्तों को बोधगम्य भाषा में रोचक शैली का आश्रय लेकर प्रतिपादित करने वाले हैं। अतः वेद में आस्था रखना और पुराणों से विमुख रहना दोनों में गृहीत शैली भेद के ठीक-ठीक न पहचानने के ही कारण है। इस संक्षिप्त विवरण से वेद के अर्थों को समझने के लिए स्मृतियों और पुराणों का प्रकृष्ट महत्त्व भली भाँति ध्यान में आ सकता है। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने वेद के समझने के लिए इतिहास पुराण की आवश्यकता बतलाई है :—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरेदिति॥

इतिहास पुराणों से अनभिज्ञ अल्पशास्त्रवाले पुरुषों से वेद सदा डरा करता है कि कहीं ये मुझे ठग न दें। मेरा सच्चा अर्थ न बतलाकर

अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। —निरुक्त २।१६

लोगों को उन्मार्ग में न ले जायँ। इसी हेतु इतिहास और पुराणों की अभिज्ञता वेदार्थानुशीलन के लिए परमावश्यक है।

इस कथन की पुष्टि के लिए एक-दो उदाहरणों का देना अतिप्रसङ्ग न समझा जायगा। शुक्ल यजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद् में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह रहस्यमय मंत्र है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

जिसका भाव है कि इस संसार में कर्म को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से ही तुम्हारी सिद्धि होगी, दूसरी तरह से नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।

क्या इसकी व्याख्या गीता के इस श्लोक (४।१४) में नहीं पाई जाती?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

कामनाओं के परित्याग के विषय में बृहदारण्यक (४।४।७) और कठ उपनिषद् (४।१४) का निम्नलिखित मन्त्र लीजिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते॥

इसका अर्थ है कि जब मनुष्य के हृदय में रहनेवाली कामनायें छूट जाती हैं, तब मरणशील मनुष्य अमर बन जाता है और ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसकी व्याख्या के लिए—इसके अर्थ को आसानी से समझने के लिए, गीता के इस श्लोक (२।७१) का जानना जरूरी है:—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कहा जा सकता है कि भगवद्गीता तो सब उपनिषदों का सार है; अतः उसमें उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या का मिलना कोई आश्चर्यजनक व्यापार नहीं है, परन्तु अन्यत्र ऐसा दुर्लभ होगा। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। ऊपर स्मृति रचना और पुराणनिर्माण के हेतु का निदर्शन किया जा चुका है। अतः इन ग्रन्थों में या तो वेदों के मन्त्रों का अर्थ विकसित रूप में मिलता है या उनके सिद्धान्त मिलते हैं। सर्वथा परम्परागत अर्थ की उपलब्धि इन ग्रन्थों से हो

सकती है। अतः इनका वेदार्थ के लिए उपयोग न करना तथा उपेक्षा करना नितान्त निन्दनीय कार्य है।

सायण का महत्त्व

सायणाचार्य ने इन सब ऊपर उल्लिखित साधनों की सहायता अपने वेदभाष्यों में ली है। उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है। वेद के अर्थ के लिए षडङ्गों की भी आवश्यकता होती है। सायण इनसे सविशेष परिचित थे। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की खूब ही छानबीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढङ्ग से किया गया है कि इसे ध्यान से पढ़ जाने पर समस्त ज्ञातव्य विषयों की जानकारी सहज में हो जाती है। द्विरुक्ति के भय से सायण ने आगे के अष्टकों में व्याकरण का विस्तार नहीं किया है, प्रत्युत अत्यन्त आवश्यक सूत्रों का कहीं-कहीं उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा है। निरुक्त का भी उपयोग खूब ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्द स्वामी, माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्पसूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्पसूत्र विषयक आवश्यक बातों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य बातों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्तविषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भवाले उपोद्घात में बड़े ही सुन्दर और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद विषयक समग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन उपोद्घातों में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है जिसके कारण ये भूमिकायें वैदिक सिद्धान्तों के भाण्डागार के समान प्रतीत होती हैं। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने याज्ञिक पद्धति

को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को दृष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया है। आजकल इसमें कुछ परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होगी। परन्तु मार्ग यही है।

सायणाचार्य के सामने इस महत्त्व के कारण प्रत्येक वेदानुशीली को अपना शिर झुकाया चाहिए। यदि सायणभाष्य न होते तो वेदार्थ के अनुशीलन की कैसी दयनीय दशा हो जाती; ऐतिहासिक पद्धति के माननेवाले यूरोपियन स्कालर लोग भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर एक ही शब्द के विरुद्ध अनेक अर्थ करने पर तुले हुये हैं, तब परम्परागत अर्थ को ही अपने भाष्य में स्थान देनेवाले सायणाचार्य के अतिरिक्त हम किसे अपना आश्रय मानें। वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य। प्रत्येक वैदिक विद्वान् के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के समझने का जो विपुल प्रयत्न किया है और किसी अंश में उन्हें जो सफलता मिली है वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण भाष्य की ही सहायता से वे लोग वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने में कृतकार्य हुए हैं। छिट फुट शब्दों के अर्थों में यत्किञ्चित् विरोधाभास दिखला कर सायण की हँसी उड़ाना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में संहितापञ्चक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, पूर्वापर विरोधहीन, उपादेय तथा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिख डालना जरा टेढ़ी खीर है। इस कार्य के महत्त्व को पण्डित जन ही यथार्थ में समझ सकते हैं। इसके लिए वैदिक धर्म तथा संस्कृत भाषा की कितनी अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए इसका सर्वसाधारण अनुमान भी नहीं लगा सकता। सायण की कृपा से वेद में प्रवेश करने वाले यूरोपीय विद्वान् यदि आधुनिक विद्या के दर्प से उन्मत्त होकर Losvon Sayaua (सायण का बहिष्कार करो) का झंडा ऊँचा करें, तो इसे सम्प्रदायविद् सायण के सामने सत्य के प्रति द्रोह भले न समझा जाय, वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता अवश्य प्रकट होती है। यूरोपीय विद्वान् सम्प्रदाय के महत्त्व से भली भाँति परिचित न होने से इस विषय में उपेक्षणीय भले मान लिये जाँय, परन्तु अधिक दुःख तो उन भारतीयों के लिए है जो आँख मूँदकर इन पाश्चात्य गुरुओं के चेला बनने में ही

अपने पाण्डित्य का चरम उत्कर्ष देखते हैं और भारतीय सम्प्रदाय के महत्त्व को जानकर उसकी उपेक्षा करने में जी जान से तुले हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सायणभाष्य में दोष नहीं है। किसी भी मानव कृति में हमें दोषहीनता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु पूरे भाष्य के ऊहापोह तथा आलोचना करने पर हमारा यही निश्चित सिद्धान्त है कि सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है; वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए विशाल सिंहद्वार है।

परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ता भी सायण के परम महत्त्व से अपरिचित नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक प्रसिद्ध अँग्रेजी विद्वान् विल्सन की यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती कि निश्चय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान् रखने का दावा नहीं कर सकता और चाहे स्वयं अपनी जानकारी से या अपने सहायकों के द्वारा वेद के परम्परागत अर्थों से नितान्त परिचित थे[1] सायण भाष्य के प्रथम यूरोपियन सम्पादक डाक्टर (मोक्षमूलर भट्ट) मैक्सम्यूलर का यह कथन भी[2] यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे। वास्तव में सायण 'अन्धे की लकड़ी' (Blind man's Stick) हैं। सौभाग्य से सायण के प्रति पाश्चात्यों के भाव इधर बदलने लगे हैं, उपेक्षा के स्थान पर आदर ने अपना पैर जमाया है। और भाषा शास्त्र आदिक आवश्यक साधनों की गहरी छान-बीन के साथ-साथ सायण के

---

[1] Sayana undoubtedly had a knowledge of his text for beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possion either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpetuatead by traditional teaching from the early times. —Translation of Rigveda.

[2] We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at leaest have gained a firm footing without his leading strings.

—Introduction to Rigveda Edn

अर्थ की सचाई का पता अब विद्वानों को लगने लगा है। इस विषय में जर्मन विद्वान् पिशल और गेल्डनर ने बड़ा काम किया है। इन लोगों ने 'वेदिशे सूदियन' (वैदिक अनुशीलन) के तीनों भागों में अनेक गूढ़ वैदिक शब्दों के अर्थ का अनुसन्धान किया है जिसके फलस्वरूप सायण के अर्थ अधिक सधे प्रामाणिक तथा उपादेय प्रतीत होने लगे हैं। अस्तु। भगवान् करे वह दिन जल्दी आये जब हम भारतीय विद्वान् सायण की सहायता से वेद के अर्थ का यथार्थ अनुसन्धान करें। साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों के अर्थ का भी ऊहापोह करें। क्योंकि हमारा पक्का विश्वास है कि वेद के यथार्थ रहस्य का उद्घाटन सम्प्रदायविद् धर्मशील भारतीय के ही द्वारा हो सकता है।

तृतीय खण्ड

आचार्य माधव

एकादश परिच्छेद

श्री माधवाचार्य

माधवाचार्य वेद-भाष्यकार सायण के ज्येष्ठ भाई थे। इस बात का ज्ञान हमें सायण के ही ग्रन्थों से नहीं होता, बल्कि माधवाचार्य के निजी ग्रन्थों में भी हम इसका उल्लेख पाते हैं। 'पराशरस्मृति' की व्याख्या में माधवाचार्य ने जो अपना परिचय दिया है, वह सायण के ग्रन्थों से उपलब्ध होनेवाले परिचय के साथ ठीक मेल खाता है। उसमें माधव ने अपनी माता का नाम श्रीमती तथा पिता का नाम मायण बतलाया है। सायण तथा भोगनाथ दोनों उनके छोटे भाई थे। वे 'बौधायनसूत्र' तथा 'यजुर्वेद' के माननेवाले ब्राह्मण थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। यह माधव का वर्णन सायण के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। अतः माधवाचार्य सायण के ज्येष्ठ भाई थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता।

माधवाचार्य का स्थान मध्यकालीन भारत के राजनीतिक तथा धार्मिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब अत्याचारी मुसलमान राजाओं के प्रबल आक्रमण से दक्षिण भारत के स्वतन्त्र राष्ट्र एक के बाद एक नष्ट होने लगे थे, तब दक्षिण भारत की निराश्रय हिन्दू प्रजा आततायियों के अत्याचारों से पीडित होकर 'त्राहि-त्राहि' की पुकार मचा रही थी, जब आर्य-सभ्यता तथा हिन्दू-धर्म के ऊपर कठिन कुठाराघात हो रहे थे, तब माधवाचार्य ने अपने सुयोग्य शिष्यों—हरिहर, बुक्क आदि पाँचों भाइयों—को स्वातन्त्र्य-लक्ष्मी की पुनःस्थापना के लिए, हिन्दू-धर्म की रक्षा के वास्ते, प्रेरित किया तथा एक नये साम्राज्य की स्थापना में भरपूर सहायता दी। यदि हरिहर महाराज को इतने बड़े शुभचिन्तक तथा विज्ञ राजनीतिज्ञ की सहायता तथा सलाह न मिलती, तो आदर्श राज्य स्थापित करने का उनका स्वप्न कभी इतनी अच्छी मात्रा में सफल हो सकता, इसमें बड़ा सन्देह है। निःसन्देह

अपने गुरु माधवाचार्य की प्रेरणा तथा उपदेश का ही यह विमल परिणाम था कि विजयनगर-साम्राज्य की नींव पड़ी तथा तुङ्गभद्रा के तीर पर उस रमणीय नगर की स्थापना हुई, जिसके विपुल वैभव तथा श्लाघनीय सौन्दर्य को देखकर विदेशी यात्री कालान्तर में चकित हो गये थे और जिसको उन्होंने एकस्वर से एशिया भर में सब से सुन्दर तथा सब से अधिक ऐश्वर्यशाली नगर बतलाया था। विदेशियों के इस कथन में जिन्हें अत्युक्ति का गन्ध मिलता हो, वे आज भी मद्रास के बेलारी जिले में विजयनगर के खँडहरों को देखकर उसकी यथार्थता का प्रमाण पा सकते हैं। वास्तव में चतुर्दश तथा पञ्चदश शताब्दियों में पूर्वी भूमण्डल पर विजयनगर जैसा दूसरा समृद्ध नगर था ही नहीं। तत्कालीन इतिहास की साक्षी के साथ-साथ आजकल का अनाहत ध्वंसावशेष भी उस समय की समृद्धि का मनोरम दृश्य हमारी कल्पना के सामने रखने में सर्वथा समर्थ है। इस नगर की स्थापना में माधवाचार्य ने हरिहर की बड़ी सहायता की। राज्य की स्थापना के साथ माधव का राजनीतिक कार्य समाप्त नहीं हुआ, प्रत्युत अपने जीवनपर्यन्त माधव विजयनगर के राजाओं को केवल उपदेश से ही नहीं, प्रत्युत कार्य से भी राजनीतिक कार्य में भरपूर सहायता देते रहे।

ये विजयनगर के प्रथम राजा हरिहर के मन्त्री थे, तदनन्तर उनकी मृत्यु के बाद जब बुक्क (प्रथम) राज्य पर शासन करने लगे, तब भी माधव मन्त्री के पद पर विराजमान रहे। जान पड़ता है कि बुक्क की मृत्यु के बाद माधव ने मन्त्री के पद को छोड़ दिया—गृहस्थाश्रम को भी परित्याग कर वे संन्यासी बन गये। इस समय इनका नाम विद्यारण्य पड़ा जैसा आगे सप्रमाण दिखलाया जायगा। बुक्क के पुत्र तथा उत्तराधिकारी महाराज हरिहर द्वितीय के शासनकाल में हम इन्हें शृङ्गेरीमठ के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित पाते हैं। हरिहर के कई शिलालेखों में इनका उल्लेख विद्यारण्यके नाम से किया गया मिलता है। इस प्रकार माधवाचार्य ने हरिहर के मन्त्रिपद पर रहकर विजयनगर राज्य को सुदृढ़ बनाने में अश्रान्त परिश्रम किया तथा हिन्दू-प्रजा की यवनों के उत्पीड़न से रक्षा करने में वे सर्वथा सफल भी हुए। अतः माधव को राजनीतिक इतिहास में बड़े महत्त्व का पद प्राप्त है। प्रत्येक इतिहास-वेत्ता इस प्रकाण्ड पण्डित की राजनीतिक पटुता देखकर उनकी प्रचुर प्रशंसा किये विना नहीं रहता।

मध्य-कालीन भारत के धार्मिक इतिहास में भी माधव का कार्य सदा के लिए धर्म-प्रेमियों के स्मरण तथा गर्व का विषय बना रहेगा। इनका नाम राजनीतिक जाग्रति से बढ़कर इस धार्मिक जाग्रति के लिए सदैव संस्मरणीय रहेगा। माधव ने महाराज हरिहर तथा बुक्क को वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए ही प्रेरित तथा प्रोत्साहित नहीं किया, प्रत्युत स्वयं धर्मशास्त्र, मीमांसा तथा वेदान्त की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना कर उन्होंने इस धार्मिक जाग्रति में समधिक योगदान किया। इतिहास साक्षी है कि विजयनगर के ये महनीय नरेश वैदिक धर्म के संस्थापक थे। सायण ने अपने वेदभाष्यों में बुक्क तथा हरिहर दोनों को वैदिक धर्म का संस्थापक बतलाया है। राजाओं की इस धर्म-संस्थापना में माधव का विशेष हाथ था, इस में सन्देह नहीं जान पड़ता। राजाओं को ही इस धर्म-प्रवर्तना के महनीय कार्य में लगाकर माधव सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि इन्होंने, जैसा अभी कहा गया है, स्वयं भी अनेक धार्मिक ग्रन्थों को बनाकर इस श्लाघनीय कार्य को अग्रसर किया। वेदभाष्यों की रचना में माधव का भी विशेष हाथ था। माधव के परिचय तथा महत्त्व बतलाने से पहले यह आवश्यक है कि उनके व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाले दो प्रश्नों का उत्तर यथार्थ रीति से दे दिया जाय। ये प्रश्न माधव अमात्य तथा विद्यारण्य से माधवाचार्य के सम्बन्ध के विषय में हैं। इन्हीं का विवेचन आगे किया जायगा। यह विस्तृत विवेचन हमें इसी निर्णय पर पहुँचाता है कि माधवाचार्य, माधव-मन्त्री (या अमात्य माधव) से भिन्न, परन्तु विद्यारण्य से अभिन्न व्यक्ति थे।

माधव मन्त्री

माधवाचार्य के विषय में सच्ची घटनाओं के जानने के लिए यह अत्यावश्यक है कि उनका उसी नामवाले तत्कालीन बुक्क महाराज के मन्त्री से पार्थक्य स्पष्टरूप में दिखलाया जाय। विजयनगर के राजाओं के दरबार में माधव नाम के एक बड़े प्रचण्ड विद्वान् तथा प्रतापी योद्धा मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित थे। दोनों की नाम-समता के कारण माधवमन्त्री के कार्यकलाप माधवाचार्य के ऊपर आरोपित किये गये हैं, परन्तु यह आरोप नितान्त इतिहासविरुद्ध है। माधवचार्य को माधवमन्त्री से भिन्न व्यक्ति सिद्ध करने का श्लाघनीय कार्य सब से पहले मैसूर के पुरातत्त्वज्ञ श्री ब० सूर्यनारायण राव तथा श्री नरसिंहाचार्य ने किया है। उन्हीं के मार्ग का अवलम्बन कर यहाँ

माधवमन्त्री का संक्षिप्त प्रकृति परिचय प्रदान किया जाता है।

शिलालेखों से पता चलता है कि माधवमंत्री आङ्गिरस गोत्र के ब्राह्मण थे। इन के पिता का नाम चावुण्ड या चौण्ड था तथा माता का माचाम्बिका। माधव उपनिषदों के रहस्यवेत्ता थे। उपनिषद् का मार्ग उस समय में कण्ट-काकीर्ण हो गया था। इन्होंने उस मार्ग को विशद बनाया। इसी कारण ये 'उपनिषन्मार्ग-प्रवर्त्तकाचार्य' कहे जाते थे। माधव शिवाद्वैत-सिद्धान्त के अनु-यायी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके गुरु काशीविलास क्रियाशक्ति अपने समय के एक नितान्त निष्णात शैवाचार्य थे। इन्हीं से इन्होंने शैवपन्थ की दीक्षा ग्रहण की थी। इन्हीं आचार्य महोदय के आदेशानुसार माधवमन्त्री शुद्ध शैवागम की पद्धति से भगवान् त्र्यम्बकनाथ की पूजा किया करते थे। अतः माधव उस समय के उपनिषन्मार्गानुयायी एक विख्यात शैव तान्त्रिक प्रतीत होते हैं। 'सूत-संहिता' की 'तात्पर्यदीपिका' नामक व्याख्या इन्हीं की रचना है। इस टीका के पर्यालोचन से माधव के विशाल दार्शनिक ज्ञान का पता चलता है, विशेषकर अद्वैत दर्शन का। इस परिचय के साक्षी कतिपय श्लोक १३६८ ई०[1] के एक शिलालेख से यहाँ उद्धृत किये जाते हैः

"गोत्रे योऽङ्गिरसां प्रचण्डतपसश्चावुण्डपृथ्वीसुर-
प्रष्टादुद्भवमेत्य नीतिसरसौ दत्तां धियं धैषणीम्।
सूरिः सन्नपि सर्वदा नवमनःप्रह्लाददानोचितां,
यद् भूयः कवितां व्यनक्ति तनुते नो कस्य तेनाद्भुतम्" ॥१॥

"यः कृत्वाखिलभूतमौपनिषदं दूर्वावदूकोन्मद-
व्यालातङ्कददुर्नयोग्रगहनोत्सादेन वर्त्मोज्वलम्।
ब्राह्मं धाम सुदूरमप्यविरतं प्रस्थापयन्नप्लवाद्
आर्यांस्वेन...बुधैरुपनिषन्मार्गप्रतिष्ठागुरुः" ॥२॥

यस्साक्षाद्गिरिशावतारवपुषः काशीविलासेशितुः,
सोद्भासाद्भुतया कटाक्षकलया नीतः प्रथां शांभवीम्।
जेताशक्तिभिरीशतात्मभिरिमं चामुं च लोकं जवा--
दाजैषीत्कियतोपरान्तविषयान् यत्सास्तु कास्य स्तुतिः ॥३॥

---

१ एपिग्राफिका कर्नाटिका ७ शिकारपुर २८१.

तस्या (बुक्कराजस्या) स्ति शस्तयशसो नयशौर्य मुख्यैः
ख्यातो गुणै जगति माधव इत्यमात्यः
यो ब्रह्मजिह्मदमनाधिकृतः पवित्रं
सूत्रञ्च जैनमभवाय भुवो बिभर्ति ॥४॥

"श्री वीरबुक्कराजस्य विक्रम इव जगद्रक्षायै साक्षात् परिगृहीतपवित्र-पुरुषाकारः सोऽयं श्रीमन्माधवामात्यस्तस्यैव श्री वीरबुक्कभूपतेरादेशात् पश्चिम-समुद्राधिपर्यन्तराज्याधिपत्यमङ्गीकृत्य तद्राजन्ययोगक्षेमान्वीक्षणानुपरोधेन श्री-सत्काशीविलासक्रियाशक्तिशिवदेशिकादिष्टेन शुद्धशैवाम्नायवर्त्मना निजेष्ट-लिङ्गकृताधिष्ठानं देवदेवं श्रीमत्त्र्यम्बकनाथं नित्यनैमित्तिकात्मभिः क्रियानियम-कलापैर्यथाकालं यजन्.......॥"

कल्लासनान्मारप भूमिपालःसम्प्राप्य राज्यं दिशि पश्चिमायाम् ।
गोमन्तशैले वरचन्द्रगुप्तौ स्थित्वा सुखं सम्यगपालयत् प्रजाः ॥

धर्मेण तस्य परिपालयतः प्रजानां,
राज्ञोऽधिराज्यगहनाम्बुधिकर्णधारः ।
प्रज्ञाबलेन गुरुमप्यतिसन्दधानो
मन्त्री महानजनि माधवनामधेयः ॥

एपि० कर्ना० भाग ८

यही माधव विजयनगर के राजाओं के मन्त्री भी थे। १३४७ ई० के शिलालेख से पता चलता है कि माधव हरिहर प्रथम के छोटे भाई मारप्प के मन्त्री थे। ये मारप्प पश्चिमी समुद्र-तीरस्थ प्रदेशों के शासक थे। इनकी राजधानी चन्द्रगुप्ति थी, जहाँ ये अपने समग्र प्रान्त का शासन-कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया करते थे। इन्होंने पहले-पहल माधव को अपना मन्त्री बनाया। उसके अनन्तर महाराज बुक्कराज (प्रथम) के ये मन्त्री बने। इनकी मृत्यु के अनन्तर भी माधव अपने प्रधान शासन-पद पर अवस्थित ही रहे और बुक्क के पुत्र तथा उत्तराधिकारी महाराज हरिहर द्वितीय के समय में भी माधव मन्त्री का काम करते रहे। इस प्रकार माधव मन्त्री ने मारप्प, बुक्क (प्रथम) तथा हरिहर (द्वितीय)—इन तीन राजाओं के प्रतिष्ठित अमात्य पद रह कर राज्य की विशेष उन्नति की।

ये महोदय केवल सुशासक ही नहीं थे, प्रत्युत एक बड़े भारी योद्धा, शौर्यसम्पन्न, शत्रुमानमर्दनकारी वीर पुरुष थे। शिलालेखों में ये 'भुवनैकवीरः'

कहे गये हैं और ठीक ही कहे गये हैं। प्रबल तुरुष्कों ने अपरान्त कोङ्कण को जीतकर अपने कब्जे में कर लिया था और उनका राज्य सुप्रतिष्ठित हो चला था। इन आततायी विधर्मियों ने मन्दिरों को ध्वस्त कर डाला था— देवताओं की मूर्तियों को तोड़ डाला था। इनके सामने लड़ना तथा उन्हें जीतना कोई हँसी खेल की बात न थी, परन्तु माधव ने यही आश्चर्यजनक काम कर दिखाया। बड़ी भारी सेना लेकर माधव ने इन पर धावा बोल दिया और इनका समूल नाश कर इन्हें कोंकण प्रान्त से सदा के लिए निकाल दिया। कोंकण की राजधानी गोवा थी। इसका उन्हों ने पुनरुद्धार किया और सप्तनाथ आदि जिन देवताओं की पूजा वहाँ मुसलमानों के कारण बन्द हो गयी थी, उसे स्थापित कर फिर जारी किया। इस प्रकार इस 'भुवनैकवीर' माधव ने अपने विजयकार्य्यों से इस उपाधि को सच्ची साबित कर दिया। बुक्क राय माधव के इस कार्य से नितान्त सन्तुष्ट हुए और विजयनगर-साम्राज्य के राज्य-विस्तार करनेवाले इस वीर पुरुष को जयन्तीपुर अथवा वनवासी प्रान्त का शासक बनाया। शासकरूप में माधव ने अनेक लोकोपकार-कार्य किये। मुसलमानों के शासन-काल में उन के कुशासन से देश तथा धर्म को जो गहरी चोट पहुँची थी, उसे इन्हों ने अपने सुशासन से भर दिया—रोग को आराम कर दिया। जिन देवताओं की मूर्तियाँ उखाड़ डाली गयी थीं, इन्हों ने पुनः उन की प्रतिष्ठा करायी और हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार किया। इतना ही नहीं, माधव बड़े उदार व्यक्ति थे। जब ये गोवा में शासक थे, इन्हों ने एक गाँव ब्राह्मणों को दिया और अपनी माता के नाम पर इसे 'मचलापुर' का नाम दिया। सन् १३६१ ई० में माधव ने 'कुचर' नामक गाँव को अपने नाम पर माधवपुर का नाम देकर चौबीस ब्राह्मणों को दान में दिया।

"तस्याज्ञया माधवमन्त्रिवर्यः प्रशाज्जयन्तीपुरराज्यमृद्धम्।
यन्मन्त्रशक्त्या वपुषस्सजन्तोऽप्यरातयोः स्वास्थ्यमहो भजन्ते ॥
आशान्तविश्रान्तयशाः स मन्त्री दिशो विजीषुर्महता बलेन।
गोवाभिधां कौंकणराजधानीमन्येन मन्येऽकृणदर्णवेन ॥
प्रतिष्ठवान् तत्र तुरुष्कसंघानुत्पाट्य दोष्णा भुवनैकवीरः।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः ॥

शके त्रयोदशाधिकशतोत्तरसहस्रे गते वर्तमानप्रजापतिसंवत्सरे श्रीमन्महामन्त्रीश्वरः उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्यः श्रीमन्माधवराजः कुचरनामानं ग्रामं

माधवपुरमिति प्रथितनामधेयं कृत्वा चतुर्विंशति ब्राह्मणेभ्यो (दत्तवान्)"

शासन के कठिन कार्य करने तथा मुसलमान आततायियों से संग्राम में लोहा लेने में ही माधव मन्त्री ने अपना समग्र जीवन नहीं बिताया, बल्कि आप ने 'स्कन्दपुराण' के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों से ओतप्रोत, 'सूत-संहिता' की 'तात्पर्यदीपिका' नामक अतीव विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी, जिस से इन के विस्तृत अध्ययन, निर्मल विचारशक्ति तथा अप्रतिम तत्त्वज्ञान-नैपुण्य का भली भाँति पता चलता है।

श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना,
श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा,
तात्पर्यदीपिका सूतसंहितायाः विधीयते ॥

इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बक पादाब्जसेवा-परायणेन उपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन माधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहितातात्पर्य-दीपिकायाम्......।

सब से पहले १३४७ ई० के शिलालेख में माधव के मन्त्री होने का उल्लेख मिलता है। माधव की मृत्यु १३६१ ई० में हुई। इस प्रकार ४० वर्ष से ऊपर ही माधव ने मन्त्री के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को सँभाला। माधवमन्त्री में हम ब्राह्म ज्ञान तथा क्षात्र तेज का अनुपम सम्मिलन पाते हैं, जिस से उस काल में निस्सन्देह देश तथा धर्म का महान् मङ्गल सम्पन्न हुआ।

माधव अमात्य के इस संक्षिप्त परिचय को ध्यान से पढ़ने पर पाठकों को अवश्यमेव पता चला होगा कि ये माधवाचार्य से भिन्न व्यक्ति हैं। माधव मन्त्री तथा माधवाचार्य को पृथक् व्यक्ति सिद्ध करनेवाले साधनों को हम यहाँ तालिका के रूप में भेद बतलाने के लिए देना उचित समझते हैं।

	माधवाचार्य	माधवमन्त्री
गोत्र	भारद्वाज	आङ्गिरस
पिता	मायण	चौण्ड्य
माता	श्रीमती	माचाम्बिका
भ्राता	सायण, भोगनाथ	×

गुरु	विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ श्रीकण्ठ	काशीविलास क्रियाशक्ति
ग्रन्थ	'पराशर माधव' आदि अनेक ग्रन्थ।	'तात्पर्यदीपिका'
मृत्यु वर्ष	१३८७ ई०	१३९१ ई०

इस प्रकार गोत्र, पिता, माता, गुरु, ग्रन्थ आदि की भिन्नता यही बतलाती है कि माधवाचार्य अमात्य माधव से भिन्न व्यक्ति थे। माधव मन्त्री कोंकण से तुरुष्कों की जड़ काटनेवाले वनवासी के शासक थे, परन्तु माधवाचार्य के विषय में संग्राम में लड़ने की बात कभी नहीं सुनी गयी है। अतः इन दोनों के जीवन की दिशा भी भिन्न-भिन्न होने से ये कदापि एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते। अतः माधवाचार्य को संग्राम में वीरता से लड़ने तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला माधव मंत्री मानना इतिहास की साक्षी से समुचित नहीं जान पड़ता।

विद्यारण्य

मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास में विद्यारण्य स्वामी का नाम अत्यन्त महत्त्व रखता है। आप अपने समय के एक नितान्त तपोनिष्ठ संन्यासी थे, जिन्होंने अपना समय अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन तथा प्रचार में व्यतीत किया। स्वामी शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित तथा धार्मिक जनता के द्वारा महनीय मठों में सब से प्रसिद्ध शृङ्गेरी मठ में आप शङ्कराचार्य के अत्यन्त उच्च पद पर विराजमान थे। शृङ्गेरी मठ से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से शिलालेखों में आप का बड़ी श्रद्धा तथा आदर से उल्लेख पाया जाता है। आप १४ वीं शताब्दी के धार्मिक जगत् की एक विभूति थे। लोगों के हृदय-पट पर शृङ्गेरी-मठाधीशों के प्रति जो आज भी इतने सत्कार की छाप पड़ी हुई है, उस का विशेष कारण आप जैसे विमलप्रतिभासम्पन्न प्रकाण्डपाण्डित्य-मण्डित तपोनिष्ठ संन्यासी का प्रातःस्मरणीय चरित्र है। इन विद्यारण्य स्वामी का सायण माधव के प्रश्न के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण से इन का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

---

1 S. Srikanta ji—foundors of Vijayanagara p. 151—154.

ये विद्यारण्य स्वामी कौन थे? संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने से पहले पूर्वाश्रम में इनका क्या नाम था? पूर्वाश्रम के इन के जीवन की कौन-सी घटनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं? ये सब प्रश्न स्वामी जी के विषय में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं, परन्तु अभी तक इनका उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया गया है। इतिहास की आलोचना तथा नयी-नयी सामग्रियों की उपलब्धि से इस समस्या का हल करना और भी कठिन होता चला जा रहा है। इतनी तो सर्वत्र ही प्रसिद्धि है कि विद्यारण्य स्वामी संन्यासाश्रम में सायणाचार्य के पूज्य ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य का नाम था। माधव ने अपने जीवन के मध्याह्न-काल में विजयनगर के महाराजाधिराजाओं के प्रधानमन्त्री तथा गुरु के गौरव-पूर्ण पद पर रहकर अत्यन्त ही कर्म-प्रधान जीवन को बिताया, परन्तु जब जीवन के सन्ध्याकाल का आभास मिलने लगा, तब इन्होंने गृहस्थाश्रम को छोड़कर भारतीय धार्मिक संस्कृति की जागृति की मङ्गल-कामना से प्रेरित होकर नितान्त शान्ति के साथ अपना जीवन बिताने का निश्चय किया। राज-काज की झंझटों से ऊबकर शान्ति के साथ जीवन बिताने की बात स्वाभाविक ही है। माधवाचार्य ने गृहस्थाश्रम को छोड़ दिया, साथ ही साथ प्रधान-मन्त्री के पद को भी उन्होंने तिलाञ्जलि दे डाली। वे संन्यासी बनकर रहने लगे, शृङ्गेरी मठ के प्रधान शङ्कराचार्य के पद पर जब आसीन हुए, तब इनका नाम 'विद्यारण्य स्वामी' पड़ा। इस प्रसिद्धि के आधार पर विद्यारण्य तथा माधवाचार्य एक ही व्यक्ति ठहरते हैं। दोनों में अभिन्नता है। माधवा-चार्य का ही संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने पर विद्यारण्य नाम पड़ा।

परन्तु, बहुत से विद्वान् इस प्रसिद्धि का एक मनोरञ्जक गल्प से अधिक महत्त्व नहीं मानते। उनके विचार से यह पीछे के श्रद्धालु जनों के उर्वर मस्तिष्क से प्रसूत कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किसी प्रबल प्रमाण के न होने से वे लोग माधव-विद्यारण्य की अभिन्नता में अत्यन्त सन्देह भरते हैं। इन सन्देहवादियों के अनेक प्रमाणों तथा युक्तियों को श्रीरामराव महोदय ने अपने 'विद्यारण्य और माधवाचार्य' नामक अंग्रेजी लेख में बड़े अभिनिवेश के साथ दिखलाया है।[1] इन प्रमाणों की आलोचना करने से इतना पता अवश्य चलता है कि तत्कालीन शिलालेखों में माधव तथा

---

[1] **राम राव**—Indian Historical Quarterly Vol VI pp-701-717, Vol. VII, pp. 78-92

विद्यारण्य की अभिन्नता की चर्चा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती। इस बात को पुरातत्त्व के विख्यात पर्यालोचक श्री र० नरसिंहाचार्य महोदय ने भी स्वीकार किया है। माधवाचार्य तथा सायणाचार्य ने अपने ग्रन्थों में भी कहीं विद्यारण्य स्वामी की बात नहीं लिखी है और न विद्यारण्यस्वामी के ग्रन्थों में उनके पूर्वाश्रम का नाम मिलता है। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर श्रीरामराव ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विद्यारण्य तथा माधवाचार्य दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, इनमें किसी प्रकार की एकता दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु सन्देहवादियों के प्रमाण विशेष सयुक्तिक नहीं प्रतीत होते।

सायण के ग्रन्थों में विद्यारण्य का उल्लेख न मिलना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है। सम्भव है, जब तक इन ग्रन्थों की रचना होती रही, माधव ने संन्यास की दीक्षा न ली हो। यदि संन्यास-दीक्षा ले भी ली हो, तो इसका उल्लेख कहीं न कहीं छोटे भाई के ग्रन्थों में होना ही चाहिए, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। माधवाचार्य के ग्रन्थों में विद्यारण्य का नामोल्लेख हो ही कैसे सकता है? ग्रन्थ लिखने के समय तक माधव ने विद्यारण्य का नाम ग्रहण ही नहीं किया था, अतः उल्लेख न पाया जाना उचित ही है। संन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने पर कोई भी यति अपने प्रपञ्च में फँसे रहनेवाले पूर्व आश्रम के नाम का उल्लेख करना अच्छा नहीं समझता, चाहे वह नाम तथा काम अपने समय में कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न रहा हो। अतः विद्यारण्य जैसे असाधारण विरक्त का अपने प्राचीन नाम तथा काम का अपने ग्रन्थों में निर्देश न करना कोई विचित्र नहीं जान पड़ता है। इन निषेधात्मक प्रमाणों की कच्ची भित्ति पर प्राचीन काल से चली आनेवाली सार्वत्रिक प्रसिद्धि की अवहेलना करना उचित नहीं है। अनुपलब्धि को अभाव का रूप नहीं प्राप्त हो सकता। यदि किसी शिलालेख में अथवा ग्रन्थ में माधव तथा विद्यारण्य की विभिन्नता स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त की गयी होती, तो इन्हें भिन्न व्यक्ति मानने के लिए इसे हम पर्याप्त साधन समझते, परन्तु ऐसी स्थिति तो है नहीं। अतः इनकी एकता की अनुपलब्धि होने से हम इन्हें भिन्न व्यक्ति मानने को तैयार नहीं हैं।

इन युक्तियों तथा प्रमाणों के विपरीत, हमें अनेक सबल प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनसे माधवाचार्य तथा विद्यारण्य एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं। पीछे के ग्रन्थकारों ने जहाँ कहीं विद्यारण्य का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है, वहाँ इन्हें

माधवाचार्य से अभिन्न ही माना है। ये निर्देश पीछे के काल के ही नहीं है, प्रत्युत समसामयिक भी हैं। इन्हीं प्रमाणों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

एकता बोधक प्रमाण

(१) नृसिंह सूरि ने अपनी 'तिथि-प्रदीपिका' में लिखा है कि विद्यारण्य यतीन्द्र आदि अनेक विद्वानों ने 'काल-निर्णय' का वर्णन किया है — "अनन्ताचार्यवर्येण मन्त्रिणा मञ्जिनल्लुना। विद्यारण्ययतीन्द्राद्यैर्निर्णीतः काल-निर्णयः। अनिःशेषीकृतस्तैश्च मम दिष्ट्या कियान्, कियान्। तमहं सुस्फुटं वक्ष्ये ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम्॥" यह 'काल-निर्णय' माधवाचार्य के द्वारा विरचित ग्रन्थ हैं। अतः इस लेखक को माधव-विद्यारण्य की अभिन्नता मान्य है।

(२) मित्रमिश्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीरमित्रोदय' (१६ वीं शताब्दी) में उल्लेख किया है कि विद्यारण्य 'पराशर-स्मृति-व्याख्या' के लेखक हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि माधवाचार्य ने यह व्याख्या लिखी।

(३) नरसिंह नामक ग्रन्थकर्त्ता ने (जो १३६० ई० से लेकर १४३५ तक विद्यमान थे) अपने 'प्रयोग-पारिजात' में विद्यारण्य को 'काल-निर्णय' (प्रसिद्ध नाम 'कालमाधव') का कर्त्ता लिखा है—"श्रीमद्विद्यारण्यमुनीन्द्रैः कालनिर्णये प्रतिपादितः प्रकारः प्रदर्श्यते" ('प्रयोगपारिजात' नि० सा० पृ० ४११)।

(४) रङ्गनाथ ने अपने 'व्याससूत्रवृत्ति' को विद्यारण्यकृत श्लोकों के आधार पर लिखा गया माना है—"विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्नृसिंहाश्रयसूक्तिभिः। संदृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी॥" इस श्लोक में माधवाचार्य-विरचित 'वैयासिकन्यायमालाविस्तर' का सङ्केत सुस्पष्ट ही है।

(५) प्रसिद्ध विद्वान् 'अहोबल' पण्डित ने भी विद्यारण्य का उल्लेख किया है। कहा जाता है कि अहोबल पण्डित माधवाचार्य के भागिनेय थे। इन्होंने तेलुगू भाषा का एक बड़ा व्याकरण संस्कृत में बनाया है। इसी ग्रन्थ में इन्होंने 'माधवीया धातुवृत्ति' को विद्यारण्य की रचना बतलाया है— "वेदानां भाष्यकर्त्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता, प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी। वाणीनीलाहिवेणी सरसिजनिलया किङ्करीति प्रसिद्धा, विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करो वीतशङ्कः॥" अहोबल पण्डित का यह पद्य बड़े महत्त्व का है। इसमें जिन बातों का वर्णन विद्यारण्य के सम्बन्ध में किया गया है, वे ही सब बातें माधवाचार्य के विषय में सर्वथा सत्य हैं। विद्यानगरी (विजयनगर) के अभ्युदय-काल में विद्यारण्य ने हरि-

हरराय को सार्वभौमत्व अर्थात् चक्रवर्ती राजा का पद प्रदान किया। यह घटना माधवाचार्य के साथ इतनी सुश्लिष्ट है कि इसके निर्देशमात्र से विद्यारण्य माधवाचार्य से नितान्त अभिन्न सिद्ध हो रहे हैं।

(५)-कहा जाता है कि 'पञ्चदशी' की रचना विद्यारण्य तथा भारती-तीर्थ ने अंशतः की। रामकृष्ण भट्ट ने 'पञ्चदशी' की अपनी टीका के आरम्भ तथा अन्त में इस बात का उल्लेख किया है।

"नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ।
मयाऽद्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना॥"
इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्य-
मुनिवर्यकिङ्करेण श्रीरामकृष्णविदुषा विरचिता पददीपिका॥"

भारतीतीर्थ माधवाचार्य के तीन गुरुओं में से एक थे, यह बात सप्रमाण सिद्ध की गयी है। अतः भारतीतीर्थ के साथ एक ही ग्रन्थ की रचना में सम्मिलित होने से विद्यारण्य मुनीश्वर माधवाचार्य से भिन्न अन्य व्यक्ति नहीं हो सकते।

(६) विजयनगर के राजा द्वितीय बुक्क के समय में चौण्डपाचार्य नामक विद्वान् ने 'प्रयोगरत्नमाला' (आपस्तम्बाध्वर-तन्त्र-व्याख्या) नामक कर्मकाण्ड की एक पुस्तक बनायी। चौण्डपाचार्य ने विद्यारण्य के मुँह से इस 'अध्वर-तन्त्र' की व्याख्या सुनी थी। उसी व्याख्यान के अनुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की व्याख्या कालान्तर में लिखी थी। ग्रन्थ के आरम्भ में विद्यारण्य के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे शब्द माधवाचार्य के लिए भी ठीक ढङ्ग से प्रयुक्त हो सकते हैं। 'वेदार्थ-विशदीकर्त्ता' जो विद्यारण्य के लिए प्रयुक्त किया गया है, स्पष्ट रूप से बतला रहा है कि वे माधवाचार्य ही थे, क्योंकि वेदों के भाष्य लिखने का श्रेय माधवाचार्य को ही प्राप्त है। अतः इस समसामयिक ग्रन्थकार की सम्मति में दोनों की अभिन्नता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। विद्यारण्य स्वामी का पूर्वनिर्दिष्ट वर्णन इस प्रकार है—

"पदवाक्यप्रमाणानां पारदृष्वा महामतिः।
सांख्ययोगरहस्यज्ञो ब्रह्मविद्यापरायणः॥
वेदार्थविशदीकर्त्ता वेदवेदाङ्गपारवित्।
विद्यारण्ययतिर्ज्ञात्वा श्रौतस्मार्तक्रियापरैः॥"[1]

---

[1] सोर्सेज आफ विजयनगर हिस्ट्री से उद्धृत पृ० ५४

. अबतक जितने प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, वे समकालीन या पीछे के ग्रन्थकारों के ग्रन्थ से दिये गये हैं। इन के अतिरिक्त एक :ताम्रपत्र भी विद्यारण्य तथा माधवाचार्य की एकता सिद्ध करने के लिए यहाँ दिया जायगा। शिलालेख से यही एक प्रमाण इस प्रसङ्ग में उपलब्ध होता है। (७) १३८६ ई० के ताम्रपत्र से जाना जाता है कि वैदिक मार्ग-प्रतिष्ठापक तथा धर्मब्रह्माध्वन्य (धर्म तथा ब्रह्म के मार्ग पर चलनेवाले) विजयनगराधीश श्रीहरिहर द्वितीय ने चारों वेदों के भाष्यों के प्रवर्त्तक तीन पण्डितों को—जिन के नाम नारायण वाजपेययाजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्डरि दीक्षित थे—विद्यारण्य श्रीपाद के समक्ष में अग्रहार दान किया।[1] इस शासनपत्र में विद्यारण्य स्वामी का नामोल्लेख होना महत्त्व से शून्य नहीं है। हम जानते हैं कि वेदभाष्य की रचना से माधवाचार्य का बहुत सम्बन्ध रहा है। उनके आदेश से सायण ने उनकी रचना की थी। बहुत सम्भव है कि उनके कहने पर हरिहर ने वेदभाष्य की रचना में प्रचुर सहायता देने के उपलक्ष्य में इन तीनों पण्डितों को पुरस्कृत करने का विचार किया हो। अतः जिन वेदभाष्यों की रचना में माधवाचार्य का इतना अधिक हाथ था, उन्हीं के प्रवर्त्तकों को इनके समक्ष में पुरस्कार देना नितान्त स्वाभाविक तथा उचित जान पड़ता है। अतः माधव ही विद्यारण्य थे। यदि विद्यारण्य भिन्न व्यक्ति होते, तो उनके सामने इस पुरस्कार के देने की आवश्यकता कौन सी थी?

इन सब सामयिक प्रमाणों की आलोचना करने पर हम इसी सिद्धान्त पर अगत्या पहुँचते हैं कि माधवाचार्य ही विद्यारण्य स्वामी थे। यदि ये दोनों भिन्न व्यक्ति होते, तो इतने बड़े विद्वान् लोग इन दोनों की एकता मानने के लिए प्रस्तुत नहीं होते। अतः संन्यास ले लेने पर माधवाचार्य का ही नाम विद्यारण्य स्वामी था।

'गुरुवंश' महाकाव्य के आरम्भिक सात सर्ग हाल ही में श्रीरङ्गम् के 'श्रीवाणी-विलास संस्कृत सीरीज' (नं० १२) में प्रकाशित हुए हैं। इस काव्य में शृङ्गेरी मठ के आचार्यों का वर्णन किया गया है। अन्य आचार्यों के केवल नाम ही पाये जाते हैं, परन्तु आद्य शङ्कराचार्य तथा विद्यारण्य के चरित्र विशेषरूप से वर्णित हैं। यह ग्रन्थ विचित्रताओं से भरा पड़ा है। शङ्करा-

[1] Mysore Archaeological Report, 1908 para. 54

चार्य का अबतक जो जीवन-चरित्र सर्वत्र प्रसिद्ध उपलब्ध होता है, उससे इस में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं विभिन्न रूप से दी गई हैं। इसी प्रकार विद्यारण्य के विषय में भी अनेक दन्तकथाओं का सङ्कलन इस काव्य में उपलब्ध होता है। यहाँ स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि विद्यारण्य माधव से भिन्न थे। लिखा है कि एक बार माधव के साथ मन्त्री सायण विद्यारण्य के पास आये और उनसे अपने लिये सन्तान की भिक्षा मांगी, परन्तु सर्ववेदी मुनि ने कहा कि आप लोगों को सन्तति न होगी। यह सुन माधव तथा सायण नितान्त खिन्न हुए, तब विद्यारण्य ने अपने बनाये हुए समस्त वैदिक तथा शास्त्रीय ग्रन्थों को इन्हीं दोनों भ्राताओं के नाम पर 'माधवीय' तथा 'सायणीय' नाम से व्यवहृत कराया, जिससे इन्हें पुत्रवानों की गति प्राप्त हुई।[1] इसी प्रकार की नाना विध कथाओं का वर्णन इस काव्य ग्रन्थ में पाया जाता है।

यदि इस ग्रन्थ को हम ऐतिहासिक मानें, तो विद्यारण्य को माधवाचार्य से भिन्न मानना ही पड़ेगा, परन्तु इसके ऐतिहासिक होने में तनिक भी विश्वास नहीं है। इस ग्रन्थ के लेखक काशी लक्ष्मण शास्त्री शृङ्गेरी के वर्त्तमान शंकराचार्य के चतुर्थ पूर्वज श्री सच्चिदानन्द भारतस्वामी की सभा के एक पण्डित थे। अतः यह ग्रंथ सौ वर्ष के भीतर ही लिखा गया है। लेखक ने शृङ्गेरी के गुरुओं के विषय में सुनी-सुनायी अनेक कथाओं के ही आधार पर इसकी रचना की है। शंकर के विषय में ही ऐसी बातें लिखी हैं, जिनका अन्य 'शंकरदिग्विजय' में कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता और न वे सर्वत्र प्रसिद्ध शंकर चरित्र के साथ मेल ही खाती हैं। अतः इस ग्रन्थ में विश्वास

---

[1] गुरुवंश महाकाव्य—

सादरः सविधमस्य तदागान्माधवेन सह सायणमन्त्री ॥४१॥
तं तदा सविनयं स ययाचे संततिं सुचरितैः परितोष्य।
सन्ततं सकलवेद्यवादीत्तौ संततिर्न युवयोर्भवितेति ॥४२॥
तन्निशम्य वचनं बहुचिन्तापन्नखिन्नमनसावगृणीताम्।
वित्तमस्ति बहुलं तदमुष्मात्पुत्रिणां गतिमवापय वेति ॥४३॥
माधवीयमिति सायणीयमित्यादराद्यतिवरोर्थित आभ्याम्।
वेदशास्त्रगकृतीः सकलास्ताः साधु संव्यधित तद्वयनाम्ना ॥४॥

सर्ग—४

करना अन्य तज्जातीय समस्त ग्रन्थों की सत्यता में सन्देह करना है। अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का भी इसमें बड़े हेरफेर के साथ वर्णन किया गया है। वेद-भाष्यों की रचना सायणाचार्य ने स्वयं किया था, परन्तु अपने ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के प्रोत्साहन से विरचित होने के कारण उन्हें 'माधवीय' नाम से व्यवहृत किया। सायण तथा माधव पुत्रहीन नहीं थे। सायण के कम्पण, शिङ्गण तथा मायण नाम के तीन पुत्र थे। माधवाचार्य के भी मायण नामक पुत्र का उल्लेख मिलता ही है। अतः इनके सन्तानहीन होने की बात नितान्त असत्य है। इन्हीं सब कारणों से हम 'गुरुवंश' को शृङ्गेरी आचार्यों की गुरु-परपम्रा के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मानते। अतः इस काव्य के आधार पर हम विद्यारण्य को माधवाचार्य से भिन्न नहीं मान सकते।

माधवाचार्य का जीवन-चरित्र

अब तक दिये गये ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि माधवाचार्य माधव मन्त्री से भिन्न थे, परन्तु वे विद्यारण्य स्वामी से नितान्त अभिन्न थे। माधव का ही नाम संन्यास लेने पर विद्यारण्य पड़ा। इतने आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण विवेचन के बाद हम माधव के जीवन की घटनाओं से अपने पाठकों को परिचित कराना उचित समझते हैं। विजयनगर के आदिम शासकों के साथ जब इनका सम्बन्ध हुआ तभी से शिलालेखों में इनके नाम का उल्लेख समय-समय पर मिलता है। शिलालेखों के आधार पर ही निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।

सुनते हैं कि माधवाचार्य ने नब्बे साल की आयु में अपनी ऐहिक लीला का संवरण किया। 'देव्यपराधक्षमास्तोत्र' विद्यारण्य के द्वारा विरचित माना जाता है। इस में स्वामी जी ने अपने को पच्चासी वर्षों से भी अधिक जीने का उल्लेख किया है। वे कह रहे हैं कि विधि-विधानों के प्रपञ्चों से ऊब कर मैंने देवताओं की पूजा छोड़ दी है। अब पचासी से भी अधिक वर्ष बीत जाने पर, हे माता! तुम्हारी कृपा यदि मुझ पर न होगी, तो हे लम्बोदरजननि! निरालम्ब बन मैं किस की शरण जाऊंगा?

"परित्यक्त्वा देवान् विविधविधिसेवाकुलतया,
मया पञ्चाशीतेरधिकमुपनीते तु वयसि॥

इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता,
निरालम्बो लम्बोदरजननि ! कं यामि शरणम् ॥"

अतः माधव के इस सुदीर्घ जीवन-काल के विषय में संशय का कोई स्थान नहीं है। हरिहर द्वितीय के समय के एक शिलालेख से पता चलता है कि वि० सं० १४४३ (१३८६ ई०) में विजयनगर में विद्यारण्य की मृत्यु हुई। इसके अनुसार वि० सं० १३५३ तदनुसार १२९६ ई० में माधव का जन्म हुआ होगा। अपने पिता मायण तथा माता श्रीमती के ये जेठे बेटे थे। इनके बाल्यकाल तथा यौवन-काल की घटनाओं के जानने के विषय में हमें अभी तक कोई भी साधन नहीं मिला है। शिलालेखों के आधार पर यही प्रतीत होता है कि अपने पचासवें वर्ष में माधव को हरिहर प्रथम की सङ्गति प्राप्त हो गयी थी। हरिहर की मृत्यु के अनन्तर ये महाराज बुक्क के प्रधान मन्त्री के उच्च पद को सुशोभित करने लगे थे। बुक्क के ही शासन-काल में उनके प्रोत्साहन से माधव ने अपने समग्र ग्रन्थों की रचना की थी। 'कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः' से स्पष्ट है कि ये बुक्क के मन्त्री होने के अतिरिक्त उनके 'कुलगुरु' भी थे[1]। बुक्क महाराज की माधवकृत प्रशस्त प्रशंसाओं से इनका इस भूपाल के प्रति विशेष आदर तथा अनुराग प्रकट होता है। बुक्क की भी इनके ऊपर विशेष भक्ति थी। वि. सं. १४१३ (१३५६ ई०) में माधव काशीपुरी में विराजमान थे। उस समय बुक्क ने इन्हें काशी से विरूपाक्ष (विजयनगर) लौट आने के लिए एक पत्र लिखा। इसी पत्र के साथ राजा ने माधव के पूज्य गुरु विद्यातीर्थ के इस आशय के पत्र को भी भेजा। फलतः माधव अपने गुरु तथा आश्रयदाता की इच्छा के अनुसार काशी से लौट आये। कुछ काल के उपरान्त बुक्क विद्यारण्य के साथ शृङ्गेरी गये, जहां पर इन्हों ने अपने गुरु के नाम से दान दिया। वि० सं० १४२५ (सन् १३६८) के एक शिलालेख में माधव बुक्क के मन्त्री कहे गये हैं, जिस से उस साल में इन का मन्त्री होना प्रमाणित होता है। बुक्क के शासन-काल के अन्तिम भाग में माधव ने संन्यास आश्रम को ग्रहण किया। वि० सं० १४३४ (सन् १३७७) के शिला-

---

[1] **प्रत्यग्दृष्टिररुन्धतीसहचरो रामस्य पुण्यात्मनो,**
यद्वत् तस्य विभोरभूत् कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधवः ॥
पराशर-माधव अध्याय ४ श्लोक ४

लेख में भी इनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। बुक्क की मृत्यु वि० सं० १४३६ (सन् १३७६) में हुई। अतः अपने आश्रयदाता की मृत्यु के दो-चार साल पहले ही माधव ने प्रधानमन्त्री के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया था तथा गृहस्थाश्रम को छोड़कर विद्यारण्य के नाम से संन्यासी बन गये थे। हमारी गणना के अनुसार लगभग अस्सी वर्ष की उम्र में अपने जीवन के संध्याकाल में माधवाचार्य संन्यासी हुए[1]। अतः पचास से लेकर अस्सी तक माधव के विजयनगराधिपतियों के मन्त्रि-पद पर प्रतिष्ठित रहने की घटना अनुमान सिद्ध है। तीस वर्षों तक और सो भी वृद्धावस्था में राज्यकार्य का सुचारु सम्पादन करना माधव की विशिष्ट राजनीतिज्ञता तथा अदम्य उत्साह का परिचायक है। इनके मायण नामक पुत्र का उल्लेख शिलालेख में मिलता है। इनका गार्हस्थ्य-जीवन नितान्त सुखकर प्रतीत होता है।

शृङ्गेरी के अध्यक्ष पद पर

माधव ने स्वामी भारती (कृष्ण) तीर्थ से संन्यास-दीक्षा ली थी। ये शृङ्गेरी मठ के पूज्य अध्यक्षपद पर अधिष्ठित रहे। शृङ्गेरी मठ के आचार्यों के विवरण के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीतीर्थ को ब्रह्म प्राप्ति १४३७ वि० (१३८० ई०) में हुई। इसी वर्ष के महाराज हरिहर द्वितीय के शृङ्गेरी ताम्रपत्रों में विद्यारण्य की विपुल प्रशंसा की गयी है। जान पड़ता है कि इसी वर्ष विद्यारण्य को शृङ्गेरी की गद्दी मिली। इस प्रकार अपने जीवन के अन्तिम ६ वर्षों को विद्यारण्य ने इस पूजनीय पीठ के माननीय आचार्य-पद पर रह कर बिताया। वि० सं० १४३७ के पहले ये कतिपय वर्षों तक भारतीतीर्थ की सङ्गति में शृङ्गेरी में निवास करते थे। जान पड़ता

[1] शृङ्गेरी के मठाम्नाय के अनुसार माधवाचार्य ने कार्तिक शुक्ल सप्तमी १२५३ शक (१३३१ ई०) में संन्यास ग्रहण किया था। परन्तु शिलालेखों के आधार पर यह मत मान्य नहीं है क्योंकि विजयनगर साम्राज्य की स्थापना भी १३३६ ई० में मानी जाती है। अर्थात् साम्राज्य की स्थापना के ५ वर्ष पहिले ही इन्होंने गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया था। ऐसी अवस्था में इतिहास में प्रसिद्ध समस्त घटनाओं से विरोध पड़ता है। अतः शृङ्गेरी का मठाम्नाय प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

है कि 'पञ्चदशी, 'वैयासिकन्यायमाला' आदि सुप्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थों की, जिन के लेखक के रूप में गुरु और शिष्य दोनों के नाम सम्मिलित ही मिलते हैं, रचना इसी काल में की गयी होगी। भारतीतीर्थ की अध्यक्षता में विरचित विद्यारण्य के ग्रन्थों में गुरु का नाम मिलना नितान्त उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इस समय भी विद्यारण्य के ऊपर महाराज हरिहर द्वितीय की श्रद्धा तथा भक्ति कम नहीं थी। हरिहर ने अपने श्रद्धाभाव का प्रदर्शन अनेक शिलालेखों में किया है। वि० सं० १४४१ (सन् १३८४ ई०) के ताम्रपत्रों में लिखा है कि 'हरिहर ने विद्यारण्य मुनि के अनुग्रह से अन्य नरेशों से अप्राप्य ज्ञान-साम्राज्य को पाया'। इसके दूसरे वर्ष वि० सं० १४४२ (१३८५ ई०) में हरिहर द्वितीय के पुत्र कुमार चिक्कराय ने, जो आरज रियासत का शासक था, विद्यारण्य स्वामी को भूमिदान दिया। इसके अगले वर्ष १४४२ वि० सं० में नब्बे साल की उम्र में विद्यारण्य की मृत्यु हुई और अपने श्रद्धाभाजन गुरु की ब्रह्मप्राप्ति के उपलक्ष्य में इसी साल हरिहर ने शृङ्गेरी मठ को भूमि दान दिया। हरिहर के इसी वर्ष के अन्य एक शिलालेख में नारायणभूत विद्यारण्य की विशेष प्रशंसा की गयी है, जिसमें विद्यारण्य को त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—से बढ़कर साक्षात् ज्योतिःस्वरूप बतलाया गया है। इन सब प्रामाणिक उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि अपने गार्हस्थ्य-जीवन की भाँति माधव का संन्यासी-जीवन भी अनेक महत्त्व तथा विशेषता से भरा पड़ा था[१]। इस समय हरिहर जैसे प्रतापी सम्राट् इनकी दयादृष्टि के भिक्षुक थे। माधव के जीवन-चरित का अध्ययन यही प्रमाणित करता है कि ये अपने समय की एक दिव्य विभूति थे, जिसमें आधिभौतिक शक्तियों के समान ही आध्यात्मिक शक्तियों का भी विशद विकास हुआ था, जिसके बल पर इन्होंने तत्कालीन दक्षिण भारत को भौतिक उन्नति तथा धार्मिक जागृति की ओर पर्याप्त मात्रा में फेरा तथा इस महान् कार्य में विशेष सफलता भी प्राप्त की।

विद्यारण्य और विजयनगर की स्थापना

विद्यारण्य के विषय में एक अत्यन्त प्रख्यात कथानक का उल्लेख

[१] माधव के चरित विषयक शिलालेखों के लिए Heras—Beginings f vijayanagar History, पृ० ११—१८

कई शिलालेखों तथा ग्रन्थों में मिलता है। यह कथानक विजयनगर राजधानी की स्थापना से सम्बन्ध रखता है। पोर्चुगीज इतिहास-लेखक नुनिज ने इस घटना का उल्लेख किया है। कोलर तथा नेल्लोर में उपलब्ध दो शिलालेखों में भी यही घटना निर्दिष्ट की गयी है। इन दोनों विवरणों में कुछ अन्तर होने पर भी, विजयनगर की स्थापना के साथ विद्यारण्य का सम्बन्ध दोनों में दिया मिलता है। इस घटना का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

"एक बार हरिहर अपने शिकारी कुत्तों के साथ तुङ्गभद्रा नदी के किनारे जङ्गल में आखेट करने के लिए गये। वहां पर उन्हें एक भयानक खरगोश दिखायी पड़ा। उसके ऊपर उन्होंने अपने कुत्तों को ललकारा, परन्तु खरगोश इतने जोर से गुर्राया और उन्हें काट खाया कि बेचारे वे कुत्ते, जिन्होंने हरिहर को शेर के भी मारने में सहायता पहुँचायी थी, ज्यों के त्यों खड़े रह गये, वे बुरी तरह घायल हुए और डर के मारे भाग खड़े हुए। खरगोश की यह वीरता देख हरिहर भौंचक्के-से हो गये। घर लौट आने पर उन्होंने ज्ञाननिधि विद्यारण्य मुनि से यह आश्चर्यजनक घटना कह सुनायी। उन्होंने इसे ध्यान से सुना और राजा से कहा कि "हे राजन्, यह स्थान विख्यात राजवंश की राजधानी होने के योग्य है। यहाँ आप अलका के समान 'विद्या' नामक नगरी की स्थापना कीजिये और इसमें आप पुरन्दर के समान विजय प्राप्तकर यश के साथ राज्य कीजिये।" हरिहर ने विद्यारण्य स्वामी की अनुमति से अपनी इस राजधानी की स्थापना की। विद्यारण्य स्वामी के नाम पर यह 'विद्यानगरी' के नाम से पहिले विख्यात हुई। कालान्तर में यह विद्यानगर, विजयानगर होते होते विजयनगर हो गया। इस प्रकार विजयनगर-साम्राज्य की विख्यात राजधानी की स्थापना विद्यारण्य की सम्मति से की गयी।

अबतक विजयनगर के इतिहास-लेखक इस घटना को प्रामाणिक मान कर विद्यारण्य स्वामी को नगर की स्थापना का श्रेय देते आये हैं। विजयनगर के आद्य इतिहासकार सेवेल, कृष्णस्वामी आयङ्गर तथा कृष्णशास्त्री, सूर्यनारायणराव आदि मान्य विद्वानों ने इस कथा में अपनी श्रद्धा दिखलायी है और इसे ऐतिहासिक महत्त्व दिया है, परन्तु अभी हाल ही में (१९२९ में) प्रोफेसर हेरास ने इस घटना की, शिलालेखों के आधार पर, बड़ी छानबीन

की है और इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है। उन्होंने १६६ शिला-लेखों से इस राजधानी के भिन्न-भिन्न वर्षों में नामोल्लेख का संग्रह किया है, जिसके आधार पर यही प्रतीत होता है कि इसका विजयनगर नाम १११ में मिलता है तथा हरिहर के समय में भी प्रसिद्ध प्रतीत होता है। 'विद्यानगर' नाम सोलहवीं सदी में ही विशेषरूप से केवल ५४ लेखों में मिलता है। इसके अतिरिक्त, विद्यारण्य के उल्लेख करनेवाले समसामयिक लेखों में इस घटना का निर्देश भी नहीं मिलता, क्योंकि हरिहर के राज्यकाल में माधव अभी गृहस्थ ही थे, विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध न थे। अतः उनका अनुमान है कि सोलहवीं सदी के शृङ्गेरी मठ के आचार्य्यों के द्वारा इस घटना का प्रचार हुआ। वास्तव में होयसल वंश के प्रख्यात नरेश वीर बल्लाल तृतीय ने अपने राज्य की यवन-आक्रमणों से रक्षा के निमित्त उत्तरी सीमा पर जिस श्रीवीर-विजय-विरूपाक्ष पुर की स्थापना की, वही संक्षेप में 'विजयनगर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः इस नगर की स्थापना हरिहर तथा विद्यारण्य से पहले ही बल्लाल के द्वारा की गयी थी। प्रो० हेरास के इस सिद्धान्त के मानने से माधवाचार्य का हाथ नगर की स्थापना से हट जाता है, तथापि इनका हरिहर तथा बुक्क के शासन-प्रबन्ध में कितना महत्त्वपूर्ण भाग था, उसे तो प्रत्येक इतिहास-लेखक को मानना ही पड़ेगा।

विद्यारण्य के विषय में, विशेषतः विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की ओर ऐतिहासिकों ने इधर खूब छानबीन की है। प्रोफेसर हेरास ने अपनी पुस्तक 'बिगिनिङ्ग आफ विजयनगर' में विद्यारण्य के साथ राज्य की स्थापना के संबन्ध को अनेक प्रमाणों, विशेषतः शिलालेखों, के आधार पर निर्मूल सिद्ध करने का उद्योग किया है[1]। इधर श्री एस: कान्तैया ने इन प्रमाणों का खण्डन कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि शिलालेखों के ही प्रमाण पर प्राचीन परम्परा की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है।[2] 'गुरुवंश'

1 Heras—Beginnings of vijaynager पृ० ७-१७

2 S. Sri kantaya—founders of vijaynagar पृ० ११२-१४२

'विजय नगर' की स्थापना अभी तक ऐतिहासिकों के मतभेद का प्रधान विषय है। कुछ लोग विद्यारण्य का इसमें हाथ मानते हैं, कुछ बिल्कुल ही नहीं। देखिए Dr Saletore **का लेख** Theories Concerning the origin of vijayanagare, Commamor atian volume P 139—160

महाकाव्य ने स्पष्टतः विद्यारण्य का सम्बन्ध 'विजयनगर साम्राज्य' की स्थापना से बतलाया है। इतना ही नहीं, इसकी स्थापना का समय १२५८ शक (१३३६ ई०) में बतलाया है, वह अन्य आधारों के समान ही है—

नागेष्वर्कैर्मित इह शके शालिवाहस्य याते,
धातर्य्यब्दे शुभसमुचिते मासि वैशाखनाम्नि।
शुक्ले पक्षे सुगुणपितृभे सूर्यवारे सुलग्ने,
सप्तम्यां श्रीविजयनगरीं निर्ममे निर्ममेन्द्रः॥

गुरुवंश महाकाव्य, सर्ग ६, श्लोक ८

हमने पहले सप्रमाण दिखलाया है कि सायण और माधव के तीन गुरुओं में विद्यारण्य और क्रियाशक्ति दो प्रधान गुरु थे। डा० वेङ्कट सुब्बैया ने दोनों को एक व्यक्ति सिद्ध करने का उद्योग किया है;[1] परन्तु दोनों की भिन्नता निःसन्दिग्ध प्रमाणों पर सिद्ध की जा सकती है।[2] विद्यारण्य क्रियाशक्ति से भिन्न व्यक्ति थे, इसी सिद्धान्त को मानना उचित प्रतीत होता है।

माधव के जीवन-चरित के अनुशीलन से पाठकों को पता चल गया होगा कि इनमें विद्वत्ता तथा राजनीतिज्ञता का अनुपम सम्मेलन था। इस महनीय आत्मा ने अपने धार्मिक ग्रन्थों के द्वारा, अपने अनुज श्री सायणाचार्य को वेद-भाष्य लिखने के लिए प्रोत्साहन के द्वारा तथा अपने आश्रयदाताओं के वर्णाश्रमाचार-पालन के द्वारा दक्षिण भारत में ही नहीं, बल्कि समग्र भारतवर्ष में वैदिक धर्म की जागृति तथा पुष्टि में ऐसा योगदान दिया था कि माधव उसकी समता करनेवाला विद्वान् मिलना नितान्त असम्भव है। माधवाचार्य के विषय में सायण का यह कथन अनेक अंश में सत्य है :—

"अनन्तभोगसंसक्तो द्विजपुङ्गवसेवितः।
सचिवः सर्वलोकानां त्राता जयति माधवः॥"

———

1 Dr, Venkata Subbaiya—Luartrly gownial of the my thic Sociely pp. 118—36

2 S. Srikantaya—founders of vijayanagara pp. 143—151

द्वादश परिच्छेद

माधवाचार्य की रचनायें

माधवाचार्य के महत्त्व का किञ्चित् परिचय हम उनकी उत्कृष्ट रचनाओं के अध्ययन से भी पा सकते हैं। वे असाधारण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे। धर्मशास्त्र तथा मीमांसा के विषय में उनकी रचनायें सदा आदर की दृष्टि से देखी जायंगी। सच तो यह है कि माधव ने अपने वृहत्काय ग्रन्थों के द्वारा इन शास्त्रों के अध्ययन में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न की। आज भी इन शास्त्रों के अनुशीलन के लिए हम माधव के ग्रन्थों के चिर ऋणी हैं। धर्मशास्त्र में माधव के नाम से उपलब्ध ग्रन्थ ये हैं—

(१) पराशर-माधव, (२) कालनिर्णय या कालमाधव, (३) दत्तक मीमांसा, (४) गोत्र-प्रवर निर्णय, (५) मुहूर्त माधवीय, (६) स्मृतिसंग्रह तथा (७) व्रात्यस्तोमपद्धति। काणे का यह कहना बहुत ही ठीक है कि नामसाम्य के कारण अनेक ग्रन्थ हमारे माधव के नाम से उल्लिखित कर दिये गये हैं।[1] अतः इन सब ग्रन्थों की रचना को सन्देह की दृष्टि से देखना विद्वानों के लिए न्याय्य ही है। अन्तरङ्ग परीक्षा के बल पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि प्रथम दो ग्रन्थ इन्हीं माधव की रचनायें हैं।

(१) पराशर-माधव— धर्मशास्त्र में पराशर का मत मान्य है, विशेष कर इस कलियुग के लिए। 'कलौ पाराशरस्मृतिः' प्रसिद्ध ही है। ये प्राचीन तथा प्रामाणिक आचार्य हैं। याज्ञवल्क्य ने ही अपनी स्मृति में (१।५) इन्हें प्राचीन धर्मशास्त्र प्रयोजक नहीं माना है, प्रत्युत इनसे प्राचीन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में पराशर तथा उनके अनुयायियों का उल्लेख आदर के साथ किया है। आजकल इस पराशरस्मृति पर अनेक व्याख्यायें मिलती हैं—

(१) प्रख्यात धर्मशास्त्री नन्द पण्डित की "विद्वन्मनोरमा" तथा (२) नागेशभट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे की टीका। परन्तु सबसे प्राचीन तथा विस्तृत व्याख्या माधवाचार्य की ही है। माधव ने स्वयं लिखा है कि उनके पहले किसी ने भी इस पर टीका नहीं लिखी थी। अतः उन्होंने कलियुग के

---

[1] काणे—हिष्ट्री आफ धर्मशास्त्र पृ० ७२३।

लिए उपयुक्त स्मृति पर स्वयं व्याख्यान लिखा—

पराशरस्मृतिः पूर्वैर्न व्याख्याता निबन्धृभिः।
मयाऽतो माधवार्येण तद्व्याख्यायां प्रयत्यते॥

(पराशरमाधव। १।६)

'पराशर माधव' माधवाचार्य की अलौकिक विद्वत्ता, गाढ अनुशीलन तथा अप्रतिम मेधाशक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। यह एक ही ग्रन्थ धर्मशास्त्र के इतिहास में उनके नामको अमर बनाने में पर्याप्त है। यह विराट्-काय ग्रन्थ सचमुच भाष्य है जिसमें धर्मशास्त्र के प्रत्येक विषय का विवेचन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ को पण्डित वामनशास्त्री ने 'बाम्बे संस्कृत सीरीज़' में चार जिल्दों में तथा डेढ़ हजार पृष्ठों में सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसके बृहद् आकार का परिचय पाठकों को सहज में लग सकता है।

पराशर स्मृति में केवल ५६२ श्लोक हैं। इनमें केवल आचार तथा प्रायश्चित्त का ही वर्णन उपलब्ध होता है। प्रथम तीन अध्यायों में 'आचार' का विषय है तथा अन्तिम नव अध्यायों में 'प्रायश्चित्त' का। मूल में आये हुए विषयों का इतना अधिक विवेचन किया गया है कि वह अंश स्वतन्त्र ग्रन्थ कहलाने की योग्यता रखता है। उदाहरण के लिए, पराशर ने २।७ में चातुर्वर्ण्य के धर्मों का संकेत मात्र किया है, परन्तु इस पर भाष्य लिखते समय माधव ने चारों वर्णों के धर्मों का प्रमाणपुरःसर साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। मूल में (२।२) ब्राह्मण के लिए कृषिकर्म का विधान मिलता है। इसकी टीका में माधव ने बड़ी छानबीन के साथ दिखलाया है कि ब्राह्मण के लिए कृषि का विधान किस अवस्था में विहित है। इसी प्रकार पराशरस्मृति में 'व्यवहार' का विषय है ही नहीं। इस कमी की पूर्ति करने के लिए माधव ने राजधर्म के वर्णन करनेवाले, एक सामान्य श्लोक की टीका में 'व्यवहार' के विस्तृत विषय का विशिष्ट वर्णन किया है।[१] इस अंश को कहीं-कहीं

---

[१]क्षत्रियो हि प्रजां रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रचण्डवत्।
विजित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

—पराशर

अतएव आचारकाण्डे व्यवहाराणामन्तर्भावमभिप्रेत्य पराशरः पृथग्

'व्यवहार माधव' भी कहते हैं, परन्तु यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। बल्कि पूरे ग्रन्थ का एक अंश मात्र है। 'पराशर-माधवीय' दक्षिण भारत में आज भी 'हिन्दू ला' के विषय में प्रमाण माना जाता है। माधव ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में अपरार्क, देवस्वामी, पुराणसार, प्रपञ्चसार, मेधातिथि, विश्वरूपाचार्य, शिवस्वामी तथा स्मृतिचन्द्रिका जैसे प्राचीन ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत किये हैं। इस ग्रन्थ को यदि हम धर्मशास्त्र का 'विश्वकोश' कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। महाराज बुक्क के आदेशानुसार इस स्मृति की रचना की गई थी, यह ग्रन्थ की पुष्पिका से स्पष्ट है।

(२) काल निर्णय—यह माधव का धर्मशास्त्र विषयक दूसरा ग्रन्थ है। इसे ही 'कालमाधव' के नाम से भी पुकारते हैं। पराशरस्मृति की व्याख्या लिखने के बाद माधव ने धर्मानुष्ठान के काल का निर्णय करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की।[1] इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधव ने पराशर भाष्य के बाद इस ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में ५ प्रकरण हैं[2]। पहले (उपोद्घात) प्रकरण में काल के विषय में दार्शनिक व्याख्या की गई है तथा नित्य काल को ईश्वर का ही स्वरूप बतलाया गया है। द्वितीय (वत्सर) प्रकरण में वर्ष की कल्पना, चान्द्र, सावन तथा सौर वर्षों का पारस्परिक विभेद, अयन ऋतु, मास, मलमास तथा उसमें वर्जित कर्म-कलाप का विशद विवेचन किया गया है। तृतीय (प्रतिपत्) प्रकरण में 'तिथि' का अर्थ, काल सीमा तथा कर्तव्य कर्म का वर्णन है। चतुर्थ (द्वितीयादितिथि) प्रकरण में भी प्रतिपद् विषयक विवेचन अन्य तिथियों के विषय में भी किया गया है। पञ्चम (नक्षत्र)

व्यवहारकाण्डमकृत्वा 'क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इति सूचनमात्रं व्यवहाराणां कृतवान्।

—पराशरमाधव

[1] व्याख्याय माधवाचार्यो धर्मान् पाराशरानथ।
तदनुष्ठानकालस्य निर्णयं वक्तुमुद्यतः ॥४॥

—कालमाधव (चौखंबा, काशी) पृ० १

[2] पञ्च प्रकरणान्यत्र तेषूपोद्घातवत्सरौ।
प्रतिपच्छिष्टतिथयो नक्षत्रादिरिति क्रमः ॥८॥

—कालमाधव पृ० २.

प्रकरण में धार्मिक कृत्यों के लिए उचित नक्षत्र, योग तथा करण का उपयुक्त वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ काल निर्णय के लिए अत्यन्त प्रामाणिक तथा उपयोगी है। पीछे के निबन्धकारों ने माधव के मत का उल्लेख आदर के साथ किया है। इसमें अनेक धर्म ग्रन्थों के साथ वाशिष्ठ रामायण, सिद्धान्त शिरोमणि (भास्कराचार्यकृत) तथा हेमाद्रि (व्रत खण्ड) का उल्लेख पाया जाता है। माधव का यह ग्रन्थ बड़ा ही प्रौढ तथा प्रामाणिक है। काल का इतना सुन्दर पाण्डित्यपूर्ण विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। पराशर माधव तथा कालमाधव की रचना के कारण धर्मशास्त्र के इतिहास में माधव का नाम चिर स्मरणीय रहेगा।

कर्म मीमांसा

(३) जैमिनीय न्यायमाला विस्तर—धर्मशास्त्र के अनन्तर मीमांसा के ऊपर माधव का विशेष अधिकार लक्षित होता है। इन्होंने जैमिनीय सूत्रों को बोधगम्य बनाने के विचार से 'न्यायमाला' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें अधिकारियों का विवेचन बड़ी ही सुन्दरता के साथ दिया गया है। पुस्तक कारिका रूप में है और बड़ी खूबी से लिखी गई है। साधारणतया प्रत्येक अधिकरण के लिये दो कारिकाएँ हैं। पहले में पूर्व पक्ष का उत्थान है और दूसरे में सिद्धान्त का प्रतिपादन। न्यायमाला की रचना पर इनके आश्रयदाता बुक्कराय रीझ गये; उन्होंने भरी सभा में इनकी प्रशंसा की और इस ग्रंथ के ऊपर विस्तृत टीका लिखने के लिये कहा।[1] तब माधव ने 'बालबुद्धये' 'विस्तर' नाम्नी टीका अपनी न्यायमाला पर लिखा, जिसका पूरा नाम 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' है।

---

[1] स खलु प्राज्ञजीवातुः सर्वशास्त्रविशारदः।
अकरोत् जैमिनिमते न्यायमालां गरीयसीम् ॥५॥
तां प्रशस्य सभामध्ये वीरश्रीबुक्कभूपतिः।
कुरु विस्तारमस्यास्त्वमिति माधवमादिशत् ॥६॥
निर्माय माधवाचार्यो विद्वदानन्ददायिनीम्।
जैमिनीयन्यायमालां व्याचष्टे बालबुद्धये ॥८॥
—जै० न्यायमाला विस्तर

इस ग्रन्थ ने सचमुच जैमिनीय सूत्र जैसे कठिन और विस्तृत ग्रन्थ को करस्थ दर्पण की तरह सुगम तथा सरल बना दिया है। इसकी रचना से माधव का मीमांसा जैसे गहन शास्त्र में परिनिष्ठित पाण्डित्य लक्षित होता है। जहाँ कहीं प्रभाकर के अनुसार अधिकरण के स्वरूप तथा विषय में भाट्टमत से पार्थक्य दीख पड़ता है, वहाँ माधव ने दोनों मतों का वर्णन भिन्न-भिन्न कारिकाओं में स्पष्ट रूप से कर दिया है। इस ग्रन्थ की ख्याति भी पर्याप्त है। मीमांसा शास्त्र में सुगमता से प्रवेश करने के लिये यह अतीव उपकारी ग्रन्थ है। जिस प्रकार पराशरमाधव स्मृति संसार में इनके नाम को अमर करने में पर्याप्त है उसी प्रकार यह 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' मीमांसा के इतिहास में इनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने में समर्थ है। यह ग्रन्थ पूने की आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि (नं० २४) में छपा हुआ है और बड़े आकार के सात सौ पृष्ठों से भी अधिक है। ग्रन्थ के विस्तार का पता इससे भली भाँति चल सकता है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से मीमांसा के इतिहास में नई जाग्रति का सूचक है। बुक्कनरेश की आज्ञा से इस ग्रन्थ की रचना की गई है।

वेदान्त ग्रन्थ

विद्यारण्य स्वामी के बनाये हुए अनेक वेदान्त ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, परन्तु इनमें से कितने उनके खास हैं—यह बतलाना कठिन काम है। उनके नाम से विशेष विख्यात वेदान्त ग्रन्थों का ही यहाँ विवरण—और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त रूप से—उपस्थित किया जाता है। एक बात और भी ध्यान देने के योग्य है। वह है विद्यारण्य और भारतीतीर्थ का ग्रन्थ प्रणयन में सहयोग। जिस प्रकार सायण और माधव की रचनाओं का पार्थक्य करना सन्दिग्ध-सा बना हुआ है, उसी प्रकार विद्यारण्य और भारतीतीर्थ की भी स्वतन्त्र रचनाओं में कुछ मतभेद-सा प्रतीत होता है। विद्यारण्य की स्वतन्त्र रचना 'पञ्चदशी' में भारतीतीर्थ का भी हाथ रहना बतलाया जाता है और भारतीतीर्थ की भी स्वतन्त्र रचना 'वैयासिक न्यायमाला' में विद्यारण्य की भी सहयोगिता मानी जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। भारतीतीर्थ थे गुरु और विद्यारण्य थे शिष्य। अतः ग्रन्थविशेष की रचना में दोनों का सहयोग होना कोई असम्भव-सा नहीं जान पड़ता, परन्तु किन ग्रन्थों में दोनों की सहयोगिता प्राप्त थी, इसे ठीक-ठीक बतलाना प्रमाणों के अभाव में कठिन

अवश्य है। पाठक यदि इस बात पर ध्यान देंगे, तो वे इन दोनों के विषय में होनेवाले मतभेद के मूल कारण को सहज ही में जान जावेंगे।

(४) **पञ्चदशी**—वेदान्त के तत्त्वों को पद्यात्मक रूप से सुगमतया समझानेवाला यह ग्रन्थ है। कौन ऐसा वेदान्त का प्रेमी है जो इस ग्रन्थ को नहीं जानता। विद्यारण्य ने इसमें अद्वैत वेदान्त के गूढ विषयों को सरल तथा सरस पद्यों में समझाया है। इस ग्रन्थ में तीन बड़े विभाग हैं—विवेक प्रकरण, दीप प्रकरण तथा आनन्द प्रकरण। प्रत्येक प्रकरण पाँच अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार समूचे ग्रन्थ में पन्द्रह अध्याय हैं, जिनके नाम निर्देश से भी विषयों का पता चल जाता है। इन अध्यायों के नाम हैं—

(१) विवेक प्रकरण में—तत्त्व विवेक, पञ्चभूत विवेक, पञ्चकोश विवेक, द्वैत विवेक तथा महावाक्य विवेक।

(२) दीप प्रकरण में—चित्रदीप, तृप्तिदीप, कूटस्थ दीप, ध्यानदीप तथा नाटकदीप।

(३) आनन्द प्रकरण में—योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द विद्यानन्द और विषयानन्द।

इसकी टीका 'रामकृष्ण' ने लिखी है जो अपने को भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य का किंकर बतलाते हैं। विद्यारण्य के इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का पता इस घटना से भी चल सकता है कि इसके अनुवाद भारत की प्रत्येक-भाषा में उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में भी इस ग्रन्थ के अनेक अनुवाद किये गये मिलते हैं। सर्वसाधारण इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में विद्यारण्य को जानता है।

(५) **जीवन्मुक्तिविवेक**—विद्यारण्य की यह बड़ी प्रौढ रचना मानी जाती है। युक्ति के विषय में श्रुति तथा पुराणों के पृष्ठों में जो साधन बिखरे हुये थे उन समग्र साधनों का उपयोग कर इस सुन्दर ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जीवन्मुक्ति का इतना साङ्गोपाङ्ग प्रामाणिक विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अच्युतराय मोडक की 'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी' नामक विस्तृत व्याख्या के साथ यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय बहुत बड़ा है, पूरे ग्रन्थ के प्रायः आधे से भी ऊपर है। इसमें संन्यास के स्वरूप तथा विविध भेदों

का विवरण प्राचीन ग्रन्थों के प्रामाणिक उद्धरणों के साथ विस्तार से किया गया है। 'जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद् बन्धो भवति; तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः' (जीते हुए पुरुष का कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी आदि चित्तधर्मों को मानना क्लेशरूप होता है। अतः बन्धन है। इसका निवारण करना जीवन्मुक्ति है।) इस व्याख्या की विस्तृत व्याख्या प्रथम अध्याय में की गई है। 'जीवन्मुक्ति' के तीन साधन होते हैं—(१) तत्त्वज्ञान, (२) मनोनाश तथा (३) वासना क्षय। इनमें वासनाक्षय का वर्णन दूसरे अध्याय में किया गया है। तत्त्वज्ञान का मनोनाश और वासना-क्षय के साथ परस्पर कारणभाव दीख पड़ता है। तत्त्वज्ञान होने पर ही मन का निग्रह तथा वासनाओं का क्षय होता है तथा पक्षान्तर में मनोनाश तथा वासनाक्षय के होने पर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति तथा दृढ़ता होती है—

यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत् तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत् तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद् वासनाक्षयः॥

तीसरे अध्याय में 'मनोनाश' का विवेचन है। मनोनाश के लिए योग की विविध क्रियाओं का वर्णन किया गया है। योगी के भेद, प्राणायाम के प्रकार आदि आवश्यक विषयों का प्रतिपादन कर ग्रन्थकार ने इसे अन्य ग्रन्थों के प्रमाण से पुष्ट किया है। चौथे अध्याय में जीवन्मुक्ति के प्रयोजनों का सम्यक् उपन्यास है। ये प्रयोजन पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं और प्रत्येक का सांगोपाङ्ग विवरण है। अन्त में इसके उपयोगी 'विद्वत्संन्यास' का भी वर्णन दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में विद्यातीर्थ की स्तुति इस प्रकार की गई है—

जीवन्मुक्तिविवेकेन तमोहार्दं निवारयन्।
पुमर्थमखिलं देयात् विद्यातीर्थं महेश्वरः॥

(६) **विवरण प्रमेय संग्रह**—विद्यारण्य के वेदान्तज्ञान की अद्भुत कसौटी है। ब्रह्मसूत्र के ऊपर आचार्य शङ्कर ने भाष्य बनाकर उसकी टीका लिखने के लिए पद्मपादाचार्य को कहा। पद्मपाद ने आचार्य से भाष्य को तीन बार पढ़ा था और वे शिष्य मण्डली में सबसे अधिक आचार्य-भक्त तथा विशुद्ध वेदान्ती माने जाते थे। उन्हीं ने पूरे भाष्य पर 'पञ्चपादिका' नामक व्याख्या

लिखी, जिसे पद्मपाद के प्रभाकरमतानुयायी मातुल ने स्वयं आग लगाकर जला डाला था। फिर भी आचार्य की कृपा से उसका पुनरुद्धार हुआ। माधव ने शङ्कर दिग्विजय में लिखा है कि पद्मपाद ने पूरे ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी थी। पर यह उपलब्ध होती है केवल आरम्भ के चार सूत्रों (चतुःसूत्री) पर। कतिपय विद्वानों का कथन है कि वेदान्त दर्शन ही पञ्चपादात्मक है। ये पाँचों पाद हैं (१) अध्यास, (२) जिज्ञासा, (३) लक्षण, (४) प्रमाण और (५) प्रयोजन। ये पाँचों विषय चतुः सूत्री में ही गतार्थ हो जाते हैं। अतः 'पञ्चपादिका' इन्हीं चार सूत्रों की ही है। इसी पञ्चपादिका पर 'प्रकाशात्मयति' ने 'विवरण' नामक टीका का प्रणयन किया। इसी विवरण के समस्त आवश्यक प्रमेयों के संग्रह होने के कारण ग्रन्थ का उपयुक्त नाम सार्थक है। विद्यारण्य ने अपने ग्रन्थ के विषय में स्वयं लिखा है—

भाष्यटीकाविवरणं तन्निबन्धनसंग्रहः।
व्याख्यानव्याख्येयभावक्लेशनाशाय रच्यते ॥

इसका दूसरा नाम विवरणोपन्यास है और अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्तलेश में इसी नाम से इसका निर्देश किया है।

यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ माना जाता है। इस ग्रन्थ की रचना से विद्यारण्य ने अपना वेदान्तगत पाण्डित्य सुचारुरूप से अभिव्यक्त किया है। व्याख्या तो चार सूत्रों की है पर समग्र ग्रन्थ में ६ वर्णक या विभाग हैं। (१) प्रथम वर्णक में 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' की नियमविधि तथा जीव-ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन तथा अध्यास की विस्तृत समीक्षा है। (२) दूसरे वर्णन में वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन दिखलाकर कर्ममीमांसा के भीतर उसके अन्तर्भाव न होने का विस्तृत विवेचन किया गया है। (३) तीसरे वर्णन में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का विस्तृत अर्थ देकर ज्ञान और कर्म के समुच्चय का निराकरण है। (४) चौथे वर्णन—में प्रथमवर्णन में सूचित अधिकारी, विषय, प्रयोजन तथा सम्बन्ध रूप अनुबन्ध चतुष्टय का विस्तृत प्रदर्शन है। (५) पाँचवा वर्णक ब्रह्म के स्वरूप तथा तटस्थ लक्षण को बतलाता है। (६) तथा (७) वर्णकों में लक्षणों के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता तथा ब्रह्म की सिद्धि में प्रमाण दिखलाये गये हैं। अन्तिम दो वर्णक (८) और (६) में ब्रह्म में ही सकल वेदान्तवाक्यों का समन्वय सिद्ध किया गया है। इस प्रकार वेदान्त के समग्र प्रमेयों का सचमुच पाण्डित्यपूर्ण संग्रह इस ग्रन्थ में उपस्थित किया गया

है। इस ग्रन्थरत्न को विद्यारण्य ने अपने गुरु विद्यातीर्थ को इन शब्दों में समर्पित किया है—

यद् विद्यातीर्थगुरवे शुश्रूषाऽन्या न रोचते तस्मात्।
अस्त्वेषाभक्तियुता श्रीविद्यातीर्थपादयोः सेवा॥

सौभाग्य का विषय है कि पण्डित ललिताप्रसाद डबराल ने इसका सुन्दर भाषानुवाद काशी की 'अच्युत ग्रन्थमाला' में १९९६ सं० में निकाला है। मूल के साथ यह अनुवाद लगभग सवा आठ सौ पृष्ठों में छपकर तैयार हुआ है।

(७) **अनुपम प्रकाश**— विद्यारण्य का यह ग्रन्थ २० अध्यायों में विभक्त है। इसमें उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का विवरण बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से कारिकाओं के द्वारा दिया गया है। इसमें इन बारह उपनिषदों के सारांश क्रम से दिये गये हैं—ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य (३ अध्याय), मुण्डक, प्रश्न, कौशीतकी (२ अ०) मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक (१३ से लेकर १८ वें अध्याय तक), केन और नृसिंह उत्तरतापिनी। ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है। उननिषदों में विना प्रवेश किये ही उनके सार अंश का परिचय सुगमता से हो जाता है। श्लोकों में मूल उपनिषद् के वाक्यों का भी स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। इस पर 'मितविवृति' नामक टीका लिखकर प्रख्यात वेदान्ती पण्डित काशीनाथ शास्त्री जी ने मूल के अर्थ को समझने में पर्याप्त सहायता दी है। इस टीका के साथ इस ग्रन्थ को भगवान्दास पोद्दार ने काशी से प्रकाशित किया है।

(८) **उपनिषद् दीपिका**—ऐतरेय उपनिषद् तथा (९) नृसिंह तापनीय के उत्तर खण्ड पर विद्यारण्य ने 'दीपिका' टीका लिखी है, जो आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित हुई है। कहना न होगा कि ये ग्रन्थकार की विद्वत्ता के अनुरूप ही पाण्डित्यपूर्ण तथा मूल के विशद व्याख्यान हैं।

(१०) **बृहदारण्यक वार्तिक सार**—विद्यारण्य स्वामी का यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थों में गिना जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् स्वरूपतः तथा अर्थतः सब उपनिषदों में श्रेष्ठ समझा जाता है। आचार्य का इस पर भाष्य भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है। उसी भाष्य के ऊपर सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक लिखे हैं, परन्तु वार्तिक का अनुशीलन करना एक दुरूह व्यापार है, क्योंकि वार्तिक बहुत ही बड़ा है तथा सारगर्भित है। इसी

वार्तिक के सार अंश को उपस्थित करने के निमित्त विद्यारण्य ने इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की है। वार्तिकसार भी काफी बड़ा है। प्राचीन संस्कृत टीका भी प्रकाशित हुई है। परन्तु काशी की अच्युत ग्रन्थमाला में इस वृहत्काय ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग हिन्दी अनुवाद भी अभी प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन करने से सुरेश्वराचार्य के वार्तिक का रहस्य भली भाँति समझ में आ जाता है। पूरा ग्रन्थ कारिकाबद्ध है और ये कारिकायें भी पञ्चदशी की कारिकाओं के समान अत्यन्त सरल, सरस तथा हृदयग्राहिणी हैं। ग्रन्थों की रचना ने अद्वैतवेदान्त के तत्त्वों का विपुल प्रचार किया तथा अन्य विद्वानों के हृदय में इस विषय की ओर स्फूर्ति उत्पन्न की। इन्हीं सेवाओं के कारण विद्यारण्य का नाम अद्वैतवेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। विद्यारण्य की ऐहिक शास्त्र तथा पारलौकिक शास्त्र—दोनों में अतीव चमत्कारिणी विद्वत्ता है।

(११) **शंकर दिग्विजय**—यह ग्रन्थ आचार्य शङ्कर का वृहत् जीवन चरित है। इसमें १६ सर्ग हैं। कविता बड़ी प्रौढ़ एवं सरस है। दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता के साथ इस ग्रन्थ में किया गया है। यह ग्रन्थ भी विद्यारण्य की रचना कहकर सर्वत्र प्रसिद्ध है। परन्तु ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर यह बात सिद्ध नहीं होती। ग्रन्थ के आरम्भ का मंगल श्लोक, जिसमें विद्यातीर्थ की वन्दना है, विद्यारण्य के प्रसिद्ध श्लोक के सदृश ही है; परन्तु शैली की विभिन्नता तथा ऐतिहासिक वृत्तों की अवहेलना के कारण यह ग्रन्थ प्रसिद्ध विद्यारण्य की कृति होगा, इस विषय में विद्वानों को विशेष सन्देह बना हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता की उपाधि 'नव कालिदास' प्रतीत होती है—

> सामोदैरनुमोदिता मृगमदैरानन्दिता चन्दनै-
> र्मन्दारैरभिनन्दिता प्रियगिरा काश्मीरजैः सेविता।
> वागेषा नवकालिदासविदुषो दोषोज्झिता दुष्कवि-
> व्रातैर्निष्करुणैः क्रियेत विकृता धेनुस्तुरुष्कैरिव॥
>
> (—शंकर दिग्विजय १।१०)

भारतचम्पू के रचयिता माधव की भी यही उपाधि थी। अतः ऐतिहासिकों का कहना है कि भारतचम्पू के लेखक की ही यह रचना है। दोनों ग्रन्थों के माधव एक ही अभिन्न व्यक्ति हैं। एक बात और भी संशय उत्पन्न

करनेवाली है। शङ्कर दिग्विजय के १४ श्लोक (१२ सर्ग १-१४ श्लोक) राजचूडामणि दीक्षित के शङ्कराभ्युदय काव्य से लिये गये हैं (चतुर्थ सर्ग, श्लोक १, २, ६, ७, १४-२३)। दीक्षित जी दक्षिण भारत में तंजोर के नायक राजाओं के सभाकवि थे। यह दिग्विजय ऐतिहासिक व्यक्तियों के विषय में बड़ी गड़बड़ी करता है। इसके अनुसार उदयनाचार्य तथा खण्डनकार श्रीहर्ष (१२ शतक) के साथ तथा अभिनवगुप्त (११ श०) का आचार्य शङ्कर का शास्त्रार्थ हुआ था (१५।७२;[1] १५।१५७[2]; १५।१५८[3]) इतना ही नहीं बाण, मयूर तथा दण्डी (७ शतक) जैसे प्राचीन कवियों से भी शंकर के भेंट होने की घटना का इसमें उल्लेख है (१५।१४१)। ये घटनायें इतिहास विरुद्ध सिद्ध हो रही हैं। ऐसी दशा में इस ग्रन्थ को हम ऐतिहासिक बातों के लिए प्रमाणभूत नहीं मान सकते[4]। इसमें विद्यारण्य का न तो कहीं उल्लेख है और न उनकी लेखक शैली का अनुसरण। फलतः यह ग्रन्थ विद्यारण्य की रचना नहीं हो सकता।

(१२) **सर्वदर्शनसंग्रह**—माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह के भी कर्ता माने जाते हैं, परन्तु ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा से यह बात सिद्ध नहीं होती। यह तो प्रायः देखा गया है कि माधव के अनेक ग्रन्थों में गजानन की स्तुति है तथा वही श्लोक हूबहू पाया जाता है[5]। परन्तु सर्वदर्शन संग्रह के आरम्भ में शिव की स्तुति से मंगलाचरण किया गया है और यह श्लोक किसी नैया-

---

[1] सहसोदयनादयः कवीन्द्राः परमद्वैतमुपश्चकम्पिरेस्म ॥

[2] पटुयुक्तिनिकृत्तसर्वशास्त्रं गुरुभट्टोदयनादिकैरजय्यम् ।
स हि खण्डनकारमूढदर्पं बहुधा व्युह्य वशंवदं चकार ॥

[3] तदनन्तरमेष कामरूपानधिगम्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे ॥

[4] 'शङ्करदिग्विजय' के भाषानुवाद के आरम्भ में लेखक ने जो शङ्कर चरित लिखा है वह केवल किम्बदन्तियों के ही आधार पर है। अवसर न होने से उसमें ऐतिहासिक तथ्यों की छानबीन नहीं की गई है।

[5] वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥

यिक का लिखा हुआ प्रतीत होता है।[1] मंगलाचरण के विषय में विप्रतिपत्ति हो सकती है, परन्तु निम्नलिखित श्लोक निःसन्देह इस ग्रन्थ को माधवाचार्य से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति का लिखा गया बतला रहा है।

श्रीमत्सायणदुग्धाब्धिकौस्तुभेन महौजसा ॥
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ॥३॥

पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोड्यशास्त्राण्यसौ,
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यास्यत् सतां प्रीतये ॥

ग्रन्थकार के परिचय देनेवाले इन पद्यों से पता चलता है कि वे सायण रूपी क्षीरसागर से निकले हुए कौस्तुभ मणि थे तथा उनका पूरा नाम 'सायणमाधव' था। दक्षिण की चाल है कि व्यक्ति के नाम में पिता का नाम पहले दिया जाता है तथा अपना नाम पीछे। यदि सुप्रसिद्ध माधवाचार्य इसके रचयिता होते तो वे अपना परिचय 'मायणं माधव' नाम से देते तथा अपने को 'मायणदुग्धाब्धिकौस्तुभ' बतलाते, क्योंकि सप्रमाण दिखलाया गया है कि वे 'मायण' के पुत्र थे। पूर्वोक्त दोनों पदों से यही प्रतीत होता है कि यह माधव सायणाचार्य के पुत्र थे। इसी लिए उन्होंने अपने पूज्य पिता का नाम दाक्षिणात्य नामकरण शैली पर अपने नाम से पहले रखा है तथा अपने को सायण रूपी क्षीरसागर से उत्पन्न कौस्तुभ बतलाया है। परन्तु माधव नामक सायण के किसी पुत्र का पता नहीं है। अलंकार सुधानिधि के आधार पर सायण के मायण नामक पुत्र होने का हमें निश्चय है।[2] तो क्या यही मायण सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता माधव थे? आर० नरसिंहाचार्य की सम्मति में सायण के द्वितीय पुत्र का मूल नाम 'माधव' ही था तथा उन्होंने ही सर्वदर्शन संग्रह जैसे अनुपम ग्रन्थ की रचना की थी।[3]

ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से इस सिद्धान्त की अनेक अंश में पुष्टि हो रही है। (१) माधवाचार्य के तीनों गुरुओं के नाम से हम परिचित हैं। उनके नाम थे—विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ तथा श्रीकण्ठ। परन्तु सर्वदर्शनसंग्रह के

---

[1] नित्य ज्ञानाश्रयं वन्दे निःश्रेयसनिधिं शिवम्।
येनैनं जातं मह्यादि तेनैवेदं सकर्तृकम् ॥१॥

[2] ...मायण ! गद्यपद्यरचनापाण्डित्यमुन्मुद्रय।

[3] इण्डियन ऐण्टिक्वेरी १९१६ पृ० २०–२१

रचयिता ने अपने गुरु को 'सर्वज्ञ[1] विष्णु' बतलाया है जो शाङ्गपाणि के पुत्र थे। यदि माधवाचार्य ही इसके कर्ता होते तो गुरु का नाम यह न होता। माधवाचार्य के किसी भी ग्रन्थ में सर्वज्ञ विष्णु का गुरु रूप से नामोल्लेख नहीं है। अतः इस विभिन्नता से माधवाचार्य सर्वदर्शन संग्रह के कर्ता सिद्ध नहीं होते। कोई अन्य ही माधव इसके कर्ता हैं।

(२) माधवाचार्य के विषय में एक किम्वदन्ती है कि संन्यास लेने पर उनका मध्वसम्प्रदाय के आचार्य द्वैतवादी अक्षोभ्यमुनि के साथ गहरा शास्त्रार्थ हुआ था, जिनमें उनको हार माननी पड़ी थी। यह साम्प्रदायिक श्लोक—

असिना तत्त्वमसिना परजीवप्रभेदिना।
विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत्॥

इस किम्वदन्ती का पोषक माना जाता है। सुनते हैं कि विशिष्टाद्वैत वादी सुप्रसिद्ध विद्वान् वेदान्ताचार्य (वेदान्तदेशिक) ने इस शास्त्रार्थ में

---

[1] पारं गतं सकलदर्शनसागराणामात्मोचितार्थचरितार्थितसर्वलोकम्।
श्री शाङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम्॥२॥
— सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १

ये 'सर्वज्ञविष्णु' अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनके दो पुत्र थे—सर्वज्ञ तथा चेन्नुभट्ट। इनमें छोटे चेन्नुभट्ट ने तर्कभाषा की व्याख्या लिखी है। (इति श्रीहरिहररायपालितेन सहजसर्वज्ञविष्णुदेवाराध्यतनूजेन सर्वज्ञानुजेन चेन्नुभट्टेन विरचितायां तर्कभाषाव्याख्यायाम्) शांकरदर्शन के वर्णन में सायणाचार्य ने सर्वज्ञविष्णु विरचित 'विवरणविवरण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है (तदुक्तं विवरणविवरणे सहजसर्वज्ञविष्णुभट्टोपाध्यायैः)। इन उल्लेखों से सर्वज्ञविष्णु हरिहर द्वितीय तथा सायण के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'पुण्यश्लोकमञ्जरी' के आधार पर कुछ लोग संन्यास लेने पर माधवाचार्य का ही सर्वज्ञविष्णु नाम बतलाते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं जँचता। इसी प्रकार औफ्रेक्ट ने 'कैतेलोगुरुस कैतेलोगोरुम्' में सायण के गुरु का नाम 'सर्वज्ञ-विष्णु' बतलाया है, परन्तु यह किस आधार पर किया गया है यह स्पष्ट नहीं है। जो हो, सर्वज्ञविष्णु दक्षिण भारत के चौदहवीं शताब्दी के एक प्रामाणिक विद्वान् थे, इसमें संशय करने के लिए कोई स्थान नहीं है।

मध्यस्थ का पद ग्रहण किया था। इस प्रकार माधवाचार्य, अक्षोभ्यमुनि तथा वेदान्तदेशिक समसामयिक प्रतीत होते हैं। अतएव वेदान्तदेशिक के 'तत्त्वमुक्ताकलाप' से उद्धृत रामानुजदर्शन के विवरण प्रसंग में 'द्रव्याद्रव्य प्रभेदात्'[1] तथा 'द्रव्यं नानादशावत्'[2] श्लोकों का प्रमाण रूप से दिया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त है, परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में परवर्ती जयतीर्थ के उल्लेख का होना ऐतिहासिक दृष्टि से असम्भावित है। परन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' में पूर्णप्रज्ञदर्शन के प्रकरण में उल्लेख पाया जाता है—शिष्टमानन्दतीर्थभाष्यव्याख्यानादौ द्रष्टव्यम्—टीकाचार्य जयतीर्थ ने आनन्दतीर्थ के भाष्य पर टीका लिखी है। ये अक्षोभ्यतीर्थ के अनन्तर मध्य-सम्प्रदाय की गद्दी पर २२ वर्ष तक गुरु थे। ये १३६० तक विद्यमान रहे होंगे। इनके ग्रन्थों के उल्लेख होने से यही अनुमान निकलता है कि माधवाचार्य 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रचयिता नहीं हो सकते, प्रत्युत उनके—कम से कम—एक पीढ़ी के बाद किसी अन्य माधव ने इसे बनाया होगा।

इन प्रमाणों के आधार पर ऐतिहासिक विद्वान् इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना नहीं की, प्रत्युत उनके एक पीढ़ी बाद किसी माधव ने बनाया और ये माधव वेदभाष्यकर्ता सायण के पुत्र प्रतीत होते हैं।

इस निर्णय को हम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। ग्रन्थ के मंगल श्लोक के अनन्तर ग्रन्थकार अपने को 'सायणदुग्धाब्धकौस्तुभ' सायणरूपी दुग्ध समुद्र का कौस्तुभ मणि कहते हैं। बहुत सम्भव है कि 'सायण' यह कुल का नाम था जिसमें वेदभाष्यकार तथा उनके दो भाई उत्पन्न हुए थे। ऐसी दशा में हम प्राचीन परम्परा की अवहेलना कैसे कर सकते हैं? 'सर्वज्ञविष्णु' विद्यातीर्थ स्वामी का गृहस्थाश्रम का नाम पुण्यश्लोकमञ्जरी में बतलाया गया है। यदि यह बात ठीक हो तो माधवाचार्य को ग्रन्थकार होना हम मान सकते हैं। परन्तु पुण्यश्लोकमञ्जरी के इस कथन की पुष्टि शिलालेखादि अन्य प्रमाणों से अभी तक नहीं हुई है। समकालीन होने से वेंकटनाथ तथा जयतीर्थ के उल्लेख भी इतिहास विरुद्ध नहीं सिद्ध होते। इन्हीं कारणों से हमें पूर्व निर्णय में संशय बना हुआ है। जब तक अन्य प्रबलतर प्रमाण

[1] तत्त्वमुक्ताकलाप १।६। [2] तत्त्वमुक्ताकलाप १।७

उपलब्ध नहीं होते, तब तक इस विषय की मीमांसा पूर्ण नहीं होगी।

(१३) **संगीतसार**—अब तक यही हमारी धारणा थी कि विद्यारण्य ने धर्मशास्त्र, वेदान्त तथा पूर्व मीमांसा के विषय में ही ग्रन्थ की रचना की है, परन्तु हमें विस्मय के साथ कहना पड़ता है कि विद्यारण्य ने संगीतशास्त्र के ऊपर भी ग्रन्थ लिखा था, जो दक्षिण भारत के संगीत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक तथा नितान्त आदरणीय माना जाता था। तंजोर के विख्यात राजा रघुनाथ नायक के नाम से प्रसिद्ध 'संगीत सुधा' नामक एक संगीत ग्रन्थ है। इसी में विद्यारण्य के संगीत मत का निर्देश पाया जाता है। 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' संगीत विषयक ग्रन्थ है। इसके रचयिता वेङ्कटमखी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'संगीत सुधा' वस्तुतः हमारे पिता गोविन्द दीक्षित की रचना है, परन्तु आश्रयदाता राजा रघुनाथ नायक के नाम से प्रसिद्ध कर दी गई है—

"तल्लक्षणं तु संगीतसुधानिधिसमीरिते अस्मत्तातकृते ग्रन्थे रघुनाथ नृपाङ्किते" (चतुर्दण्डी प्रकाशिका)

यह 'संगीतसुधा' अभी तक अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है। इसमें केवल ७ अध्याय हैं। इसके द्वितीय (राग) अध्याय में उपलब्ध इन शब्दों से पता चलता है कि विद्यारण्य ने 'संगीतसार' नामक संगीत विषयक ग्रन्थ बनाया था—

"संगीतसारं समवेक्ष्य विद्यारण्याभिधश्रीचरणप्रणीतम्" (संगीत सुधा, द्वितीय अध्याय)

'संगीतसुधा' शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर के ढंग पर लिखा गया है। इसके दूसरे अध्याय में 'राग' का वर्णन है और तीसरे अध्याय में अनेक 'प्रकीर्णक' विषयों का विवेचन है। इन दोनों अध्यायों में विद्यारण्य के विशिष्ट मतों का निर्देश बड़े ही आदर के साथ किया गया है। इन उद्धरणों में विद्यारण्य को 'कर्णाट सिंहासन का भाग्यरूप' कहा गया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रचयिता की सम्मति में विद्यारण्य ने कर्णाट राज्य—विजयनगर राज्य—की उन्नति में विशेष सहायता पहुँचाई थी।

"कर्णाटसिंहासनभाग्यविद्यारण्याभिधश्रीचरणाग्रणीभ्यः
आरभ्य रागान् प्रचुरप्रयोगान् पञ्चाशतं चाकलये षडङ्गान्।

(संगीतसुधा २।४१२)

अब तक न तो 'संगीतसुधा' ही पूरी मिलती है (उसके चार ही

अध्याय उपलब्ध हैं) और न 'संगीतसार' का ही पता चलता है। 'संगीतसार' के केवल उद्धरणों के अनुशीलन करने से हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि विद्यारण्य स्वामी केवल आध्यात्मिक विषयों के ही पण्डित न थे, प्रत्युत संगीत जैसे लौकिक विषयों में भी इनकी विशेष जानकारी थी। संगीत प्रेमियों का यह कर्तव्य है कि इस ग्रन्थ की खोज कर इसका उद्धार करें।[1]

---

[1] 'संगीतसार' के उद्धरणों के लिए देखिये—श्री सुन्दरम् अय्यर लिखित 'श्री विद्यारण्य ऐण्ड म्यूजिक' शीर्षक लेख।

Vijaynagar Sesie Centenary Commemoration Volum p. 332-342

त्रयोदश परिच्छेद

श्रीविद्यारण्य के दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी विद्यारण्य अद्वैत वेदान्त के प्रधान आचार्यों में अन्यतम हैं। अतः इनका मत भी शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद ही है। इस प्रकार उन्होंने शाङ्करमत का अनुसरण ऐकान्तिक भाव से किया है। शङ्कर के पश्चात्वर्ती मान्य आचार्यों में जिस प्रकार की मौलिकता मिलती है वैसी मौलिकता विद्यारण्य स्वामी में भी है। शङ्कर-पश्चात्-युग के अद्वैती-आचार्यों के लिये जीव तथा ईश्वर का स्वरूप, माया तथा अविद्या में तारतम्य, अविद्या तथा माया का आश्रय—आदि महत्त्वपूर्ण विषयों में आचार्य विद्यारण्य का अपना विशेष मत है। इनकी समीक्षा करने से किसी भी विवेकशील आलोचक को इनकी प्रतिभा, व्यापक पाण्डित्य, गम्भीर शास्त्रानु-चिन्तन तथा तीक्ष्ण तर्क शैली का परिचय अनायास ही लग सकता है। यहाँ इनके विशिष्ट मतवाद का एक सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

(१) जीव तथा ईश्वर का स्वरूप

जीव तथा ईश्वर की मीमांसा भिन्न-भिन्न अद्वैती आचार्यों ने अपनी दृष्टियों से पृथक् रूप से की है। 'प्रकटार्थ विवरण' के रचयिता माया को अनादि तथा अनिर्वचनीय मानते हैं। इस माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही ईश्वर कहलाता है। माया से परिच्छिन्न आनन्द-प्रदेश आवरण तथा विक्षेप शक्ति से युक्त अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहलाता है। 'संक्षेप शारीरिक' के रचयिता सर्वज्ञात्ममुनि का मत है कि अविद्या में पड़नेवाला चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है तथा अन्तःकरण में पड़नेवाला चैतन्य प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। इन दोनों से पृथक् तथा स्वतन्त्र मत विद्यारण्य स्वामी का है। वे माया और अविद्या को भिन्न-भिन्न मानते हैं। रज और तम से अनभिभूत शुद्ध सत्त्व-प्रधान 'माया' का रूप है तथा रज तथा तम से अभिभूत मलिन सत्त्व-प्रधान होना 'अविद्या' का रूप है। ये प्रकृति के ही दो भेद मानते हैं—माया और अविद्या। माया वह है जिसमें कि प्रकाशक सत्त्व गुण अन्य गुणों से विना कलुषित हुए स्वयं विशुद्ध रूप में विद्यमान

रहता है। इसके विपरीत अविद्या में रज और तम से मिश्रित होने के कारण सत्त्व कलुषित रूप में विद्यमान रहता है। इसीलिये माया 'शुद्ध सत्त्वप्रधाना' कही जाती है तथा अविद्या 'मलिन सत्त्वप्रधाना' मानी गई है। माया में प्रतिबिम्बित होनेवाला जो चैतन्य है वह माया को अपने वश में रखता है और सर्वज्ञत्व आदि गुणों से सम्पन्न रहता है—यही ईश्वर है। इसके विपरीत अविद्या में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य, जो अविद्या के वश में होकर नाना प्रकार की विचित्रता से अनेक प्रकार का होता है, जीव कहलाता है। इस विषय का वर्णन विद्यारण्य ने पंचदशी के पहले ही प्रकरण में बड़े संक्षेप रूप में किया है—

> सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
> मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥
> अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
> सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तमाऽभिमानवान् ॥

चैतन्य के विषय में भी माधव का अपना स्वतन्त्र मत है। जहाँ अधिकांश आचार्य चैतन्य को तीन प्रकार का मानते हैं, वहाँ माधवाचार्य चैतन्य को चार प्रकार का बतलाते हैं। संक्षेपशारीरिक के रचयिता 'सर्वज्ञात्म-मुनि' ब्रह्म को बिम्बस्थानीय मानते हैं तथा ईश्वर और जीव को उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप। इस प्रकार इनके मत में चैतन्य तीन प्रकार का है—ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव। परन्तु विद्यारण्य के मत में चित् या चैतन्य चार प्रकार है—कूटस्थ चैतन्य, ब्रह्मचैतन्य, जीव चैतन्य तथा ईश्वर चैतन्य। इन चारों के स्वरूप का वर्णन पंचदशी के चित्रदीप प्रकरण में आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

> कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
> घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥

आकाश तो एक ही प्रकार का है; परन्तु उपाधि के भेद से चार प्रकार का प्रतीत होता है—(१) घटाकाश (२) महाकाश (३) जलाकाश (४) मेघाकाश। घट के द्वारा परिच्छिन्न होनेवाला आकाश ही घटाकाश है तथा किसी के द्वारा अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी आकाश ही महाकाश कहलाता है। घट में रहे वाले जल में मेघ नक्षत्र आदि के साथ जिस आकाश का प्रति-बिम्ब पड़ता है उसे ही हम 'जलाकाश' के नाम से पुकारते हैं। ऊपर

महाकाश में वाष्परूप से अवस्थित जो मेघ-मण्डल है, वह भी तो जल का ही परिणाम है। उसमें आकाश का प्रतिबिम्बित होना हम अनुमानतः मान सकते हैं। इसी प्रतिबिम्बित आकाश को हम 'मेघाकाश' कहते हैं। इस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद से चार प्रकार से प्रतीयमान हो रहा है। चैतन्य की भी ठीक यही दशा है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान रूप से वर्त्तमान होनेवाला तथा इन दोनों शरीरों के द्वारा अवच्छिन्न होनेवाला जो आत्मा है उसे ही 'कूटस्थ' कहते हैं। कूट का अर्थ है पर्वत का शिखर, उसी के समान निर्विकार होने के कारण यह आत्मा कूटस्थ कहलाता है। इसी का दूसरा नाम है साक्षी चैतन्य—

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतन :।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

इस कूटस्थ चैतन्य के ऊपर बुद्धि की कल्पना होती है। वह सत्त्व गुण के कार्य होने के कारण नितान्त निर्मल और स्वच्छ होती है। अतएव उसके ऊपर चैतन्य का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव कहलाता है। यही जीव प्राणों का धारण करनेवाला तथा ज्ञान-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति का प्रेरक होता है। यही संसार से युक्त होकर जगत् के व्यवहार का निर्वाह करता है। कूटस्थ से जीव को भिन्न मानने का यही कारण है।

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट ही है। किसी वस्तु से अनवच्छिन्न जो शुद्ध चैतन्य है वही ब्रह्म है और इसी चैतन्य का माया में प्रतिबिम्बित होने वाला जो रूप है वही ईश्वर है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये विद्यारण्य स्वामी ने चित्रपट का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। चित्रपट की चार अवस्था होती है—धौत, घटित, लाञ्छित तथा रञ्जित। उसी प्रकार आत्मा की भी चार अवस्थायें होती हैं—चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा तथा विराट्। स्वभाव से ही शुभ्र वस्त्र धौत रूप में रहता है। उसके ऊपर चित्रोपयोगी होने के लिये जब किसी अन्न से लेप कर देते हैं तब वह 'घट्टित' कहलाता है। स्याही से जब चित्र का खाका खींच दिया जाता है तो वह 'लाञ्छित' कहलाता है और उसी खाके को तरह-तरह के रंगों से जब भर देते हैं तो वह वस्त्र रञ्जित कहलाता है। वस्त्र तो स्वयं श्वेत था परन्तु नाना रंगों के योग से अनेक

प्रक्रियाओं के अनन्तर वही तरह-तरह के चित्रों से विभूषित है। ठीक यही दशा उस परम तत्त्व की है। परमात्मा माया और उनके कार्यों से रहित होने के कारण चित् कहलाता है, माया के योग से अन्तर्यामी या ईश्वर, अपंचीकृतभूतों के कार्यरूप जो सूक्ष्म शरीर होते हैं उनके योग से चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहलाता है तथा पंचीकृतभूतों के कार्य रूप स्थूल शरीर के योग से विराट् कहलाता है। वह है एक ही परन्तु उपाधियों के भेद से नाना प्रतीत होता है।

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घटितोऽन्नविलेपनात्।
मायाकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥
स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

अद्वैत वेदान्त से परिचित विद्वान् भली भाँति जानते हैं कि वेदान्त में दो प्रधान पक्ष हैं, प्रतिबिम्ब वाद और अवच्छेद वाद। विवरणकार प्रकाशात्मयति प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद के अनुयायी हैं। विद्यारण्य स्वामी भी प्रतिबिम्बवाद ही के पक्षपाती हैं परन्तु इन्होंने विवरणकार के मत को अक्षरशः स्वीकार नहीं किया है। विवरणकार का तो यह प्रसिद्ध मत है कि स्वतन्त्रता आदि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर बिम्बस्थानीय है और उसी का जो अविद्या में प्रतिबिम्ब है वही जीव है। अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप; परन्तु विद्यारण्य के मत में जीव और ब्रह्म दोनों ही प्रतिबिम्ब रूप हैं। इस प्रकार इन्होंने अपने 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' में मूलग्रन्थकार से विभिन्न ही मत की स्थापना की है।

(२) साक्षी का स्वरूप

साक्षी के विषय में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की भिन्न भावनाएँ हैं।

(क) चित्सुखाचार्य कहते हैं कि माया शवलित सगुण परमेश्वर में केवल निर्गुण आदि विशेषण किसी प्रकार उपपन्न नहीं हो सकते हैं। इसीलिये अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूपी जीवों के अधिष्ठान होने से अत्यन्त अन्तस्थ, जीवत्व ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित और जीवों के अधिष्ठान होने से प्रत्येक शरीर में भेद को प्राप्त होनेवाला ब्रह्म ही 'साक्षी' है। इस कथन का सारांश यह है कि साक्षी जीव तथा ईश्वर दोनों से विलक्षण है। यदि वह

जीव कोटि में माना जायेगा तो वह उदासीन नहीं होगा। यदि ईश्वर साक्षी माना जायेगा तो भी वह उदासीन नहीं होगा। क्योंकि वह जगत् की रचना में, पालन में तथा संहार में सदा व्यावृत रहने वाला है। इसीलिये चित्सुखाचार्य ईश्वर तथा जीव से रहित शुद्ध चिदात्मा को ही साक्षी मानते हैं।

(ख) कौमुदीकार की सम्मति इससे भिन्न नहीं है। श्वेताश्वतर का कथन है कि परमात्मा एक है, सब भूतों में गूढ है। आकाश के समान व्यापक ब्रह्म से लेकर स्तम्भ तक सब प्राणियों का अन्तरात्मा है, जीव के द्वारा किये गये कर्मों का साक्षी है, सब भूतों का अधिष्ठान है, जीवों का भी साक्षी है, चेता एक तथा निर्गुण है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

इस श्रुति से प्रतीत होता है कि 'साक्षी' परमेश्वर का ही कोई स्वरूप-विशेष है जो जीवों की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का सर्वथा जाननेवाला है और स्वयं उदासीन है। यही साक्षी प्राज्ञ शब्द से भी कहा जाता है। साक्षी के विषय में कौमुदीकार का यही मत है। कुछ लोग अविद्या रूप उपाधि से उपहित जीव को साक्षी बतलाते हैं। इस विषय में विद्यारण्य का अपना एक विशिष्ट मत है। इसी का प्रतिपादन यहाँ पर किया जा रहा है।

(ग) ऊपर चार प्रकार के चैतन्य का वर्णन किया गया है इनमें कूटस्थ चैतन्य ही साक्षी रूप है। यह चैतन्य स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का अधिष्ठान रूप है। वह अपने अवच्छेदक दोनों शरीरों का साक्षात् द्रष्टा है तथा कर्तृत्व आदि विकारों से शून्य है। लोक में साक्षी शब्द से वही पुरुष लक्षित होता है जो द्रष्टा होते हुये भी स्वयं उदासीन हो। लोक में जहाँ दो आदमियों में झगड़ा होता है कौन आदमी साक्षी बन सकता है? वही, जो उनके विवाद का द्रष्टा हो और स्वयं उदासीन हो। इस प्रकार द्रष्टा तथा उदासीन दोनों का एक साथ होना साक्षी का लक्षण है (दृष्टृत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्) साक्षी का यह लक्षण कूटस्थ चैतन्य में भली भाँति घटता है। इसीलिये विद्यारण्य उसी को साक्षी कहते हैं। इस प्रकार साक्षी जीव ईश्वर तथा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न होता है।

इसी का विशद वर्णन विद्यारण्य ने 'नाटक-दीप' नामक प्रकरण में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने साक्षी की उपमा नृत्य-शाला में विद्य-

मान रहनेवाले दीपक के साथ दी है। नृत्यशाला में रहनेवाला दीप नाटक के अध्यक्ष को, सभासदों को तथा नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है। वह न तो किसी के लिये विशेष आदर दिखलाता है और न किसी के लिये ह्रास; प्रत्युत निर्विकार रूप से इन तीनों वस्तुओं को वह प्रकाशित करता है और इनके अभाव में वह स्वयं प्रकाशित होता है। ठीक यही दशा साक्षी की भी है। साक्षी अहंकार को, विषयों को और बुद्धि को समान भाव से प्रकाशित करता है और अहंकारादि के अभाव में वह स्वयं प्रकाशित होता रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि साक्षी जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में तो अहंकारादि को प्रकाशित करता है और सुषुप्ति अवस्था में इनके अभाव होने पर वह स्वयं प्रकाशित रहता है।

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम्।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥
अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥

यह उपमा बड़ी ही सुन्दर जमी है। अहंकार नाटकाध्यक्ष है। विषय सभासद हैं तथा बुद्धि नर्तकी है। इन्द्रियाँ ताल आदि वाद्यों को धारण करने वाली हैं और साक्षी इन सभी को प्रकाशित करनेवाला दीप रूप है।

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥ १४ ॥

इस दृष्टान्त की समग्रता नितान्त रमणीय है। नाटक का अध्यक्ष सूत्रधार नाटक के अच्छा होने पर तो प्रसन्न होता है और बुरा होने पर दुःखित होता है इसी प्रकार अहंकार रूप जीव विषय भोग के पूर्ण होने पर अभिमान से प्रसन्न रहता है और विषय भोग की न्यूनता पर नितान्त उदासीन तथा खिन्न रहता है। इसलिये नृत्य अभिमानी सूत्रधार और जीव इन दोनों की स्पष्ट समता है। विषय आस पास ही रहते हैं परन्तु उनमें न तो हर्ष रहता है और न विषाद। इस प्रकार उनकी समता सभ्यों के साथ दी गई है। नाना प्रकार के विकारों से युक्त होने के कारण बुद्धि नर्तकी के समान है। जैसे ताल आदि देनेवाले पुरुष नर्तकी का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ बुद्धि का अनुसरण किया करती हैं। इसीलिये उनकी समता तालादिधारण करनेवाले पुरुषों से दी गई है।

दीप जिस तरह उन सबों को समान भाव से प्रकाशित करता है उसी प्रकार कूटस्थ चैतन्य भी इन सबों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार विद्यारण्य के मत में साक्षी जीव से भिन्न है। ईश्वर तथा ब्रह्म से भी भिन्न है।

इस विषय में विद्यारण्य शंकराचार्य के मत के स्पष्ट अनुगामी प्रतीत हो रहे हैं। आचार्य का भी यही कहना है कि अविकारी, उदासीन तथा कूटस्थ चैतन्य ही साक्षी हो सकता है—

न साक्षिणं साक्ष्यधर्मा संस्पृशन्ति विलक्षणम्।
अविकारमुदासीनं गृहधर्म्माः प्रदीपवत्॥
देहेन्द्रियमनोधर्म्मा नैवात्मानं संस्पृशन्त्यहो।

(३) ईश्वर का सर्वज्ञत्व

श्रुति ब्रह्म के विषय में स्पष्ट शब्दों में कहती है कि —'यः सर्वज्ञः सर्ववित्', अर्थात् वह सर्वज्ञ है, सर्ववेत्ता है। इस प्रकार ब्रह्म का सर्वज्ञत्व तो श्रुति प्रतिपादित है परन्तु फिर भी अद्वैत के आचार्यों ने अनेक युक्तियों से इसका दृढीकरण किया है। शंका यह है कि जीव में ज्ञाता होने का जो व्यवहार किया जाता है वह अन्तःकरण रूप जीव की उपाधि के आधार पर ही किया जाता है। ईश्वर का तो अन्तःकरण होता नहीं तो वह ज्ञाता कथमपि नहीं हो सकता। 'कार्योपाधिरयं जीवः' इस श्रुति से अन्तःकरण जीव की ही उपाधि कहा गया है। ईश्वर की नहीं। ज्ञातृत्व धर्म सर्वज्ञत्व का व्यापक है अर्थात् जहाँ-जहाँ सर्वज्ञत्व होगा वहाँ-वहाँ ज्ञातृत्व अवश्य रहेगा। जब ब्रह्म में अन्तःकरण उपाधि रहित होने से ज्ञातृत्व धर्म नहीं रहता तब सर्वज्ञत्व उसमें कहाँ से आ सकता है? इसलिये ब्रह्म में सर्वज्ञत्व की उपपत्ति नहीं है—यह पूर्वपक्ष है।

इसका उत्तर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने नाना प्रकार से दिया है।

(१) प्रकटार्थकार के मत में ईश्वर में सर्वज्ञता का निवास है। जैसे जीव में ज्ञातृत्व की प्रयोजिका उपाधि अन्तःकरण है वैसे ईश्वर में भी ज्ञातृत्व की प्रयोजक उपाधि माया है। श्रुति भी 'मायिनं तु महेश्वरम्', कहकर माया को ईश्वर की उपाधि बतलाती है। जीव की उपाधि रूप अन्तःकरण की वृत्तियाँ चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती हैं। उसी प्रकार माया के परिणाम चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं। इन्हीं वृत्तियों से तीनों काल में रहनेवाले प्रपञ्च का अपरोक्ष ज्ञान ब्रह्म को होता है इसीलिये ब्रह्म को सर्वज्ञ

कहा गया है।

चिच्छायाग्राहिभिर्माया वृत्तिभेदैस्तदीशितुः।
त्रैकालिकेष्वापरोक्ष्यं प्रकटार्थकृतो विदुः॥

(२) तत्त्वशुद्धिकार के मत में ब्रह्म में वर्त्तमान वस्तु का अनुभव है, भूतकाल में स्मरण है तथा भविष्यत् कालीन वस्तु का भी ऊहन है अर्थात् ज्ञान है, इसलिये ब्रह्म सर्वदा सर्वज्ञ है। (३) कौमुदीकार का मत इससे कुछ भिन्न है, उनका कथन है कि सूक्ष्म रूप से सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं इसलिये साक्षी होने के कारण ब्रह्म सब का ज्ञाता है। इनके मत में सर्वज्ञता 'ज्ञान रूपता' है, 'ज्ञानकर्तृत्व रूपता' नहीं है। इसीलिये शांकर भाष्य के (१।४।१६।) में 'ज्ञानकर्तृत्व' जीव का लिङ्ग माना गया है। इस महत्त्वपूर्ण विषय में वाचस्पति मिश्र विवरणकार आदि के मत नितान्त भिन्न हैं। इस विषय में विद्यारण्य का मत भी महत्त्वपूर्ण ही माना जाता है। (४) उनका कहना है कि संपूर्ण वस्तु विषयक संपूर्ण बुद्धि वासनाओं से उपहित ईश्वर संपूर्ण विषय वासना का साक्षी है। अतः ईश्वर सर्वज्ञ है। इस बात को सिद्ध करने की युक्ति यह है। एक बुद्धि किसी एक वस्तु को विषय करती है और सभी बुद्धियाँ मिलकर सब वस्तुओं को विषय करती हैं। इस प्रकार से यदि सब बुद्धियाँ सब वस्तुओं का अवगाहन करें तो उन बुद्धियों की वासनायें भी सब पदार्थों का अवश्य विषय करेंगी। इसलिये सब प्राणियों की बुद्धि वासनाओं से उपहित आनन्दमय ब्रह्म में सब वस्तुओं के विषय करने की योग्यता रहती है। इसलिये वह सर्वज्ञ है। इसी प्रकार विद्यारण्य स्वामी ईश्वर को सर्वज्ञ मानने की युक्ति प्रदर्शित करते हैं।

(४) साधन-विमर्श

साधन के विषय में विद्यारण्य स्वामी ने स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रस्तुत किया है। इसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्त लेश' के तृतीय परिच्छेद में किया है तथा इसका विस्तृत वर्णन ग्रन्थकार ने पंचदशी के ध्यानदीप नामक नवम प्रकरण में किया है। विद्यारण्य का कहना है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा विद्या की प्राप्ति होती है परन्तु विद्या लाभ के लिये एक दूसरा भी उपाय है। यह उपाय है—निर्गुण की उपासना। उपनिषद् का कहना है कि—'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्'। गीता कहती है—'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'—अर्थात् 'ब्रह्म' सांख्य और योग

के द्वारा प्राप्त होता है। यहाँ सांख्य का अर्थ है वेदान्त विचार और योग का अर्थ है निर्गुण ब्रह्म की उपासना। पूर्वोक्त श्रुति-स्मृति वाक्यों का यह अर्थ है कि मनन आदि से युक्त श्रवण शब्द से कहलाने वाला वेदान्त-विचार जिस प्रकार ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में कारण है उसी प्रकार योग शब्द से कहलानेवाली निर्गुण ब्रह्मोपासना भी ब्रह्म-विद्या में उपयोगी है। यदि कोई यह शंका करे कि जो पदार्थ निर्गुण है उसकी उपासना ही नहीं हो सकती तो, यह युक्ति ठीक नहीं; क्योंकि प्रश्न-उपनिषद् में स्पष्ट रूप से निर्गुण ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन किया गया है। उसका कहना है कि जो पुरुष अकार, उकार तथा मकारात्मक तीन मात्राओं से युक्त ओंकार से सूर्य्य के अन्तर्गत परम पुरुष का ध्यान करता है वह तेजोमय सूर्य्य-लोक को प्राप्त होता है। सर्प जिस प्रकार केंचुल से निकल जाता है उसी प्रकार वह पापों से मुक्त हो जाता है। वह साम श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मलोक में जाता है और इस जीवघन से उत्कृष्ट हृदय स्थित परम पुरुष का साक्षात्कार करता है (५।५)। इस श्रुति से स्पष्ट है कि निर्गुण की उपासना सम्भव है। अप्पय दीक्षित ने यहाँ पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया है। उनका कहना है कि 'परम् पुरुषमभिध्यायीत' तथा 'पुरुषमीक्षते' इन दोनों वाक्यों में जिसे ध्यान करने का विधान है उसी का फल वाक्य में निर्देश किया गया है। इस प्रकार निर्गुण की उपासना भी सम्भव है।

ध्यान दीप में इस विषय को समझाने के लिये माधव ने दो प्रकार के भ्रम का निर्देश किया है। एक भ्रम का नाम है संवादी भ्रम, दूसरे का असंवादी भ्रम। जहाँ पर विपरीत ज्ञान से भी इष्ट फल की प्राप्ति दैवात् हो जाती है उसे तो संवादी भ्रम कहते हैं और जहाँ इष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती उसे असंवादी भ्रम कहते हैं—

> अयथावस्तुविज्ञानात्फलं लभ्यत ईप्सितम्।
> काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥ १२ ॥

संवादी भी भ्रम ही है परन्तु वह सम्यक् फल को देनेवाला होता है। ब्रह्मतत्त्व की उपासना भी ठीक इसी प्रकार की है। वेदान्त वाक्यों से अखण्ड एक रस रूप परम तत्त्व का ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान परोक्ष होता है। 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार उपासना करने से वही परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष रूप में परिणत हो जाता है और मुक्ति रूपी फल को देनेवाला होता है। उपा-

सना का अर्थ है बारम्बार चिन्तन, चिन्तन तथा अनुसन्धान। आचार्य शंकर के शब्दों में उपासना का लक्षण यह है—"उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहे दीर्घ-कालं यद् आसनं तद् उपासनमाचक्षते" अर्थात् उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्तविधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा की तरह समान वृत्तियों के प्रवाह से जो दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहना है उसे ही उपासना कहते हैं। (गीता १२।३ पर शांकर भाष्य)। यह उपासना अथवा चिन्तन जिस प्रकार सगुण ब्रह्म में सम्भव है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में भी सम्भव है। यदि कहा जाय कि निर्गुण ब्रह्म वाणी और मन से अगोचर होने के कारण उपासना का विषय कथमपि नहीं हो सकता तो उसका ज्ञान भी कथमपि नहीं हो सकता, यह मानना ही पड़ेगा। जिस प्रकार उसका ज्ञान सम्भव है उसी प्रकार उस निर्गुण की उपासना भी। इसी उपासना से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह विद्यारण्य स्वामी का अपना स्वतन्त्र मत है। सांख्य-मार्ग और योग-मार्ग में कुछ अन्तर भी है। सांख्य-मार्ग मुख्य कल्प है; क्योंकि प्रति-बन्धकों से शून्य व्यक्तियों के लिये श्रवण-मननादि क्रम से ब्रह्म का साक्षात्कार शीघ्र होता है। परन्तु उपासना से ब्रह्म का साक्षात्कार विलम्ब से होता है। इसीलिये योग-मार्ग गौण कल्प है। यही दोनों का पार्थक्य है। इस प्रकार साधना के विषय में भी माधवाचार्य का अपना स्वतन्त्र मत है।

———

चतुर्थ खण्ड—वेदार्थशीलन

चतुर्दश परिच्छेद

वेद का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। श्रुति की दृढ आधार शिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को भली भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। अपने प्रातिभचक्षु के सहारे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्म-शास्त्र के तत्त्वों की विशाल विमल राशि का ही नाम वेद है। स्मृति तथा पुराणों में वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनु के कथनानुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन, सर्वदा विद्यमान रहनेवाला चक्षु है। लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य जानने के लिए वेद की उपयोगिता है। इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपाय को बतलानेवाला ग्रन्थ वेद ही है। वेद का 'वेदत्व' इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है। ज्योतिष्टोम याग के सम्पादन से स्वर्ग प्राप्ति होती है अतः वह ग्राह्य है तथा कलञ्ज भक्षण से अनिष्ट की उपलब्धि होती है, अतएव वह परिहार्य है, इसका ज्ञान तार्किक शिरोमणि भी हजारों अनुमानों की सहायता से भी नहीं कर सकता। इस अलौकिक उपाय के जानने का एक मात्र साधन हमारे पास है, वेद।

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
> एवं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

वेदकी भारतीयधर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्क के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल आचार्यों के सामने यदि कोई वेद विरोध दृष्टिगोचर होता है, तो उनका मस्तक स्वभावतः नत हो जाता है। हम ईश्वर विरोध को गवारा कर सकते हैं, परन्तु वेद से

आंशिक भी विरोध हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है। ईश्वर की सत्ता न माननें वाले भी दर्शन 'आस्तिकता' से विहीन नहीं माने जाते, परन्तु वेद की प्रामाणिकता को अनङ्गीकार करने से दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है। आस्तिक वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा नास्तिक वही है जो वेद की निन्दा करे। इस प्रकार वेदों का माहात्म्य हिन्दूधर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है। शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जिस लोक को मनुष्य जीत लेता है, तीन वेदों के अध्ययन करने से उतना ही नहीं, प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है। अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है :—

"यावन्तं ह वै इमाँ पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददन् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।" शत० ११।५।६।१

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनुकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म साक्षात्कार का अनुभव करता है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(म० स्मृ० १२।१०२)

जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महव प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्गवेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिए (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च)। मनु ने क्षोभभरे शब्दों में वेदानध्यायी विप्र की विशिष्ट निन्दा की है कि जो द्विजन्मा वेद का विना अध्ययन किये अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीवित दशा में ही अकेले नहीं बल्कि वंश के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह गुरु के द्वारा उपनीत होकर वेदों का अध्ययन करे, परन्तु इस कार्य के अभाव में वह द्विजत्व से वंचित होकर शूद्र-कोटि में सद्यः प्रविष्ट हो जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

—मनु २।१६८

अतः उचित तो यह था कि अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की अपेक्षा हम वेदानुशीलन को महत्त्व देते, वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप को समझने के लिए वेद के तत्त्वों के अध्ययन में समय बिताते, परन्तु आजकल के वेदाध्ययन की दशा बड़ी दयनीय है। विदेशी भाषा का अध्ययन ही हमारी उदरपूर्ति का प्रधान साधन होने के हेतु हमारे अथक परिश्रम का विषय बना हुआ है। संस्कृतभाषा के पढ़नेवालों की भी रुझान वेदों की ओर नहीं है। काव्य-नाटक की कोमल रसमयी कविता के आस्वादन करने में ही हम अपने को भाग्यशाली समझते हैं, वेदों को फूटी नजर से भी नहीं देखते।

क्या यह खेद का विषय नहीं है कि काव्य नाटक के अनुशीलन में ही हम अपने अमूल्य समय को बिताकर अपने कर्तव्यों की समाप्ति समझने लगते हैं, परन्तु इनके मूल स्रोतभूत वेद तथा वैदिक संस्कृति से परिचय पाने में भी हम मुँह मोड़े हुए रहते हैं। साधारण संस्कृतानभिज्ञ जनता की तो बात ही न्यारी है, हम उन पण्डितों तथा शास्त्रियों से भी परिचित हैं जो केवल अष्टाध्यायी के कतिपय सुप्रसिद्ध अल्पाक्षर सूत्रों के ऊपर शास्त्रार्थ करने में घंटों बिता देते हैं, परन्तु वेद के सीधे सरल मन्त्रों के भी अर्थ करने में अपने को नितान्त असमर्थ पाते हैं। क्या यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं है कि जिन विद्वान् ब्राह्मणों के ऊपर समाज के नेतृत्व का उत्तरदायित्व टिका हुआ है वे ही इन ग्रन्थरत्नों के जौहर न समझें, वे ही इनके द्वारा प्रतिपादित आचार पद्धति के रहस्योद्घाटन में अपने को कृतकार्य न पावें। काशी, पूना जैसे विद्याक्षेत्रों में आज भी अनेक वैदिक विद्यमान हैं जिन्होंने समाज की उदासीनता की अवहेलना कर अश्रान्त परिश्रम तथा अनुपम लगन के साथ विविध कठिनाइयों के बीच श्रुतियों के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठाग्र जीवित रखा है। इनकी जितनी श्लाघा की जाय, थोड़ी है, जितनी प्रशंसा की जाय, मात्रा में वह न्यून ही जचती है, क्योंकि इनके कण्ठों से आज भी हम मन्त्रों का उच्चारण उसी भाँति, उसी स्वरभङ्गी में, सुन सकते हैं जिस प्रकार अतीव प्राचीनकाल के ऋषिजन इनका विधिपूर्ण उच्चारण किया

करते थे। इस प्रकार इन मन्त्रों के रक्षक रूप में ये वैदिक विद्वत्समाज के आदर के पात्र तथा श्रद्धा के भाजन हैं; परन्तु इनमें एक त्रुटि गुलाब में काँटों की तरह बेतरह खटक रही है। ये अक्षरज्ञ होने पर भी अर्थज्ञ नहीं होते। और यह भी निश्चित बात है कि वेद के अर्थों का ज्ञाता विद्वान् केवल मन्त्र वर्ण से परिचित व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने बाध्य होकर अर्थज्ञ विद्वान् की जो प्रचुर प्रशंसा की है वह अनोखी और अनूठी है। "जो व्यक्ति वेद का अध्ययन तो करता है, पर उसके अर्थ को नहीं जानता, वह ठूँठे वृक्ष की तरह केवल भार ढोने वाला ही होता है। जो अर्थ को जानता है वही सम्पूर्ण कल्याण को भोगता है और ज्ञान के द्वारा पापों को दूरकर वह स्वर्ग प्राप्त करता है।"

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

ऐसी विषम स्थिति में वेदों के अर्थ को जानकर तत्प्रतिपादित धर्म, आचार, व्यवहार तथा अध्यात्म शास्त्र के मन्तव्यों के समझने का उद्योग सर्वथा स्तुत्य तथा प्रशंसनीय है।

वेद के अर्थज्ञान का कौन-सा उपयोग है? वेद के अनुशीलन से हमारा क्या लाभ हो सकता है? आजकल विज्ञान तथा साम्यवाद के युग में वेदों में ऐसा कौन-सा आकर्षण है जिसके कारण हम इन नवीन उपयोगी विषयों के अनुशीलन से मुँह मोड़कर अतीव प्राचीन विषय की ओर मुड़ें। क्या वैदिक मन्त्रों में हमारे माननीय कविजनों की रसभरी कमनीय काव्यकला का दर्शन मिलेगा? काव्यदृष्टि से वेदानुशीलन करनेवाले पाठकों से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि वे कालिदास की निसर्गमनोरम उपमा, भवभूति के पत्थर को रुलानेवाले करुणरस, दण्डी के पदलालित्य, बाण की मधुर स्वरवर्णपदा कविता की आशा से वैदिक मन्त्रों का अध्ययन करना चाहते हैं, तो डर है कि उन्हें निराश होना पड़ेगा। वैदिक मन्त्रों में भी कवित्व है, परन्तु उसकी माधुरी कुछ विलक्षण ढंग की है। इसीप्रकार यदि वेदों में कुमारिल तथा शङ्कराचार्य के ग्रन्थों में उपलब्ध तर्क विन्यास की आशा की जायगी, तो वह उतनी सफल नहीं हो सकेगी। वेदों में आध्यात्मिक तत्त्वों का उत्कृष्ट भाण्डा-

गार है, परन्तु उनके प्रतिपादन की दिशा इन अर्वाचीन ग्रन्थों की शैली से नितान्त भिन्न है। उपनिषदों में अध्यात्मशास्त्र के रहस्य तर्क की कर्कश प्रणाली के द्वारा उद्‌भावित नहीं किये गये हैं, प्रत्युत उनमें खरी स्वानुभूति की कसौटी पर कसकर तत्त्वरत्नों का हृदयस्पर्शी विवेचन किया गया है।

वेदों का सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व है। आधुनिक भारत में जितने विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित हैं, इनका मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की विमल धारायें विभिन्न मार्गों से बहकर भारत ही की नहीं समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वरा बनाती हैं। ये आर्यों के ही नहीं, प्रत्युत मानवजाति के सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज किस प्रकार अपना जीवन बिताते थे, कौन क्रीडायें उनके मनोरञ्जन की साधिका थीं, किस प्रकार उनका विवाह सम्बन्ध देह सम्बन्ध का ही प्रतीक न होकर आध्यात्मिक संयोग का प्रतिनिधि माना जाता था, किन देवताओं की वे उपासना किया करते थे, किस प्रकार वे प्रातःकाल प्राची के मुखमण्डल को उजागर करनेवाली 'पुराणी युवति' ऊषा की सुनहली छटा में अग्नि में आहुति प्रदान किया करते थे, किस तरह आवश्यकतानुसार वे इन्द्र, वरुण, पूषा, मित्र, सविता तथा पर्जन्य की स्तुति अपने ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल की साधना के लिये किया करते थे, तो हमारे पास एक ही साधन है, वेदों का गाढ अनुशीलन—श्रुतियों का गहरा अध्ययन। श्रुतियों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकाश को हम भली भाँति समझ सकते हैं। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के तत्त्वों की उपलब्धि बीजरूपेण होती है। यदि 'नेह नानास्ति किञ्चन' अद्वैत तत्त्व का बीजरूप से सूचक है, तो श्वेताश्वतर में वर्णित लोहितकृष्णशुक्ला अजा सांख्याभिमत सत्वरजस्तमोमयी—त्रिगुणात्मिका प्रकृति की प्रतीक है। यदि हम रामानुज मत के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, वल्लभ के शुद्धाद्वैत, चैतन्य के अचिन्त्यभेदाभेद के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर मनन तथा पर्यालोचन अनन्य साधन है।

भारतीयों के लिये वेदों की उपयोगिता तो बनी ही हुई है। वेदों से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण, हमारे संस्कारों की दशा बतानेवाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करनेवाली

विचारधारा—इन सब का उद्भव स्थान वेद ही है। अतः हमारे हृदय में वेदों के प्रति यदि प्रगाढ श्रद्धा है, तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकीर्ण तथा सीमित नहीं है। यों तो मानव जाति के प्राचीन इतिहास, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की जानकारी के लिए भी उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं। पहले कहा गया है कि वेद मानव जाति के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माने जाते हैं अतः अतीव अतीतकाल में मानवों के व्यवहार तथा विचार का पता इन अमूल्य ग्रन्थरत्नों की पर्यालोचना से भली भाँति लग सकता है।

भाषा की दृष्टि से वेदों का महत्त्व कम नहीं है। वैदिक भाषा के अध्ययन ने भाषा विज्ञान को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में 'भाषा विज्ञान' की प्रतिष्ठा का सर्वाधिक श्रेय संस्कृत भाषा को ही है। उसके पहले यूरोपीय भाषाविदों में मूलभाषा के विषय में पर्याप्त मतभेद था। कोई ग्रीकभाषा को ही समग्र भाषाओं की जननी मानता था तो कोई लैटिनभाषा को इस महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का इच्छुक था। पक्के इसाई भाषावेत्ताओं की माननीय सम्मति में हिब्रू (यहूदी भाषा) ही पृथ्वीतल की भाषाओं में सर्वप्राचीन, आदिम तथा मूलभाषा थी। इस प्रकार भाषाविदों में प्राचीन भाषा के लिए पर्याप्त मतभेद था, तुमुल वाक्कोलाहल चल रहा था। संस्कृत की उपलब्धि होने पर ही इस कोलाहल का अन्त हुआ; मतभेद का बीज दूर हुआ और एक मत से प्राचीनतम आर्यभाषा की रूपरेखा का निर्धारण भली भाँति दिया जाने लगा। इसका सुफल इतना महत्त्वशाली है कि वेदों का अनुशीलन करना प्रत्येक भाषाशास्त्र के रहस्यवेत्ता व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। एक दो उदाहरणों के द्वारा इस महत्त्व को समझाना अनुचित न होगा।

हिन्दी पाठक ईसाई धर्मोपदेशकों के लिए प्रयुक्त होने वाले 'पादरी' शब्द से परिचित ही हैं। भारत की प्रायः समस्त भाषाओं में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत पाया जाता है। इसका इतिहास विशेष मनोरञ्जक है। यूरोपिअन जातियों में पोर्चुगीज़ों (पुर्तगाल के निवासी) ने भारत में आकर अपना सिक्का जमाने के लिए ईसाई धर्म का भी प्रचार करना शुरू किया। वे लोग इन धर्मोपदेशकों को पाद्रे (Padre) कहते थे इस शब्द से भारतीय भाषाओं का 'पादरी' शब्द ढल कर तैयार हुआ है। पोर्चुगीज़

'पाद्रे' शब्द लैटिन 'पेतर' शब्द का अपभ्रंश है और यह 'पेतर' संस्कृत भाषा का सुप्रसिद्ध 'पितर' (पितृ) ही है। इस प्रकार संस्कृत की सहायता से हम 'पादरी' का अर्थ 'पिता' समझ सकते हैं और अंग्रेजी में आज भी इन पूजनीय धर्मोपदेष्टाओं के लिए पिता (फादर) का ही प्रयोग किया जाता है।'

अंग्रेजी के रात्रि वाचक 'नाइट' शब्द में उपलब्ध परन्तु अनुच्चार्यमाण gh वर्णों का रहस्य संस्कृत की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। उच्चारण के अभाव में इन वर्णों को इस पद में स्थान देने की क्या आवश्यकता है? शब्दों के लेखन क्रम में सुधारवादी अमेरिकन भाषावेत्ताओं ने भी इन अक्षरों पर अभी अपना दण्ड-प्रहार इसीलिए नहीं किया है कि इन वर्णों की सहायता से इसके मूल रूप का परिचय भलीभाँति चल जाता है। gh घ का सूचक है। अतः मूल शब्द में किसी कवर्गीय वर्ण की सूचना दे रहा है। संस्कृत 'नक्त' के साथ इसकी साम्य विवेचना करने पर इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। 'नाइट' शब्द का मूल यही 'नक्तं' शब्द है। लैटिन 'नाक्टरनल' (Nocturnal) में भी इसी कारण 'ककार' की स्थिति बनी हुई है। अतः अंग्रेजी शब्दों के अर्थ तथा रूप को समझने के लिए संस्कृत शब्दों से परिचय नितरां अपेक्षित है।

वैदिक भाषा की लौकिक भाषा के साथ तुलना करने पर अनेक मनोरंजक बातें दृष्टि पथ में आ जाती हैं। भाषा शास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ में व्यवहृत होने वाले शब्द कालान्तर में आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। पार्थिव जगत् से हटकर वे सुदूर मानसिक जगत् की वस्तुओं की सूचना देते हैं। वेद इस विषय में बहुत-से रोचक उदाहरण उपस्थित करता है। इन्द्र की स्तुति के प्रसङ्ग में गृत्समद ऋषि की अन्तर्दृष्टि पुकार कर कह रही है—"पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्" अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतों को स्थिर किया। यहाँ कुप् तथा रम् धातु के प्राचीन अर्थ का ऊहापोह भाषा दृष्टि से नितान्त उपदेशप्रद है। कुप् धातु का मौलिक अर्थ है भौतिक संचलन। और रम् धातु का अर्थ है स्थिरीकरण, चंचल पदार्थ को निश्चल बनाना। कालान्तर में इन धातुओं ने अपनी दीर्घ जीवन यात्रा में पलटा खाया। सब से अधिक मानसिक विकार उस दशा में उत्पन्न होते हैं जब हम क्रोध के वशीभूत होते हैं। हम उस दशा में अपने मन के भीतर एक विचित्र प्रकार की प्रखर चञ्चलता का अनुभव पद-पद पर करते हैं। अतः

अर्थ की समता के बल पर कोप शब्द भौतिक जगत् के स्तर से ऊपर उठकर मानस स्तर तक अनायास पहुँच जाता है। आधुनिक संस्कृत में यदि हम कहें "कुपितो मकरध्वजः" तो वाक्यपदीय के मन्तव्यानुसार कोपरूपी 'लिङ्ग' की सत्ता के कारण मकरध्वज से अभिप्राय 'काम' से समझा जाता है और समुद्र का अर्थ लक्षणया ही बोधित किया जा सकता है। 'रम्' का अर्थ है भौतिक स्थिरीकरण; परन्तु धीरे-धीरे इस शब्द ने भौतिक भाव को छोड़कर मानस भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। खेल तमाशों में चञ्चल चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि उसे इन वस्तुओं में एक विचित्र प्रकार के आनन्द का संचार होता है। यही कारण है कि आजकल रम् का प्रयोग क्रीडा अर्थ में किया जाता है। प्रचलित भाषा के प्रयोगों में कभी-कभी प्राचीन अर्थ की झलक आ ही जाती है। 'क्रीडायां रमते चित्तम्' (क्रीड़ा में चित्त रमता है) यहाँ 'रमते' का लक्ष्य स्थिरीकरण के लिए स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः संस्कृत शब्दों के अर्थ में इस परिवर्तन की जानकारी के लिए वेद तथा वैदिक भाषा का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

इन्हीं महत्त्वपूर्ण वेदों के ऊपर भाष्यों की रचना कर हमारे चरित-नायक सायणाचार्य ने अतुलनीय कीर्ति प्राप्त की है। उनके भाष्यों ने हमें वेदों के अर्थों के उद्‌घाटन के निमित्त अचूक कुंजी दी है। इनके महत्त्व समझने के लिए वेद के अर्थानुचिन्तन तथा तद्‌विषयक इतिहास से परिचित होना आवश्यक है।

पञ्चदश परिच्छेद

वेद का अर्थानुचिन्तन

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दुरूह व्यापार है। यदि प्राचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी विषम बन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन के विषय में यह कथन अतीव उपयुक्त ठहरता है। एक तो वे स्वयं किसी धुँधले अतीत काल की कृति ठहरे, तिस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गंभीरता ने अपना सिक्का जमा रखा है। फल यह हुआ कि उनके अर्थ का उचित मात्रा में पर्यालोचन करना, उनके अन्तस्तल तक पहुँचकर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गई है। परन्तु इस पहेली के समझाने का प्रशंसनीय उद्योग प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। यास्क ने निरुक्त (१।२०।२) में इस उद्योग का तनिक आभास भी दिया है। उनके कथनानुसार ऋषि लोगों ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने जब अर्वाचीन काल में धर्म को साक्षात्कार न करने वाले ऋषिजनों को देखा, तो उनके हृदय में नैसर्गिक करुणा जाग पड़ी और इन्हें मन्त्रों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियों ने श्रवण के विना ही धर्मों का साक्षात् दर्शन किया था। अतः द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वतः सिद्ध था। परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले मन्त्रों का ग्रन्थ तथा अर्थरूप से श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मों के दर्शन में कृतकार्य हुए। अतः श्रवणान्तर दर्शन को योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपयुक्त अभिधान 'श्रुतर्षि' रखा गया।[1] इन्हीं श्रुतर्षियों ने मानवों के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा

---

[1] अवरेभ्यः अवरकालीनेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः। तेषां हि श्रुत्वा ततः पश्चादृषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्माणां श्रवणमन्तरेणैव।

—दुर्गाचार्य।

निरुक्तादि वेदाङ्गों की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीन काल के मनुष्य दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जाँय, और न वे वेदमूलक आचार तथा धर्म से मुँह मोड़ बैठें, इस उन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ के उपदेश करने में सन्तत जागरूक थे। यास्क के शब्द ये हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च ॥

वेदों के गम्भीर अर्थ समझाने का प्रथम उद्योग कौन-सा है, यह कहना जरा मुश्किल है। आज कल उपलब्ध यास्क-विरचित निरुक्त से भी प्राचीन 'निघण्टु' है जिसकी विस्तृत व्याख्या 'निरुक्त' में की गई है। निघण्टु शब्द का अर्थ है शब्दों की सूची। निघण्टु में संहिताओं के कठिन अथच सन्दिग्धार्थ शब्दों को एकत्र कर उनके अर्थ की सूचना दी गई है। उपलब्ध ग्रन्थों में 'निघण्टु' वेदार्थ के स्फुटीकरण का प्रथम प्रयास-सा लक्षित होता है। प्रातिशाख्यों की रचना इसी समय या इससे भी पहले की मानी जा सकती है। इन ग्रन्थों में वैदिक भाषा के विचित्र पदों, स्वरों तथा सन्धियों के विवेचन की ओर ही ध्यान दिया गया है, साक्षात्रूप से पदों के अर्थ की पर्यालोचना का नितान्त अभाव है। किसी समय में विभिन्न निरुक्त ग्रन्थों की सत्ता थी और दूसरी सूचना अवान्तर ग्रन्थों में उद्धरणरूप से यत्र-तत्र उपलब्ध भी होती है तथापि वेदार्थ की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ यास्क-रचित निरुक्त ही है। इस ग्रन्थ-रत्न की परीक्षा से अनेक ज्ञातव्य विषयों का पर्याप्त पता चलता है। यास्क ने स्थल-स्थल पर आग्रायण, औपमन्यव, कात्थक्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य आदि अनेक निरुक्ताचार्यों की तथा ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैदान आदि अनेक व्याख्याताओं की वैयक्तिक तथा सामूहिक सम्मति का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। इससे प्रतीत होता है कि वेदार्थ की अनुशीलन-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

यास्क ने (निरुक्त १।१५) कौत्स नामक किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। कहा नहीं जा सकता कि ये कौत्स वस्तुतः कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल पूर्वपक्ष के निमित्त कोई काल्पनिक व्यक्ति। कौत्स की सम्मति है कि मन्त्र अनर्थक हैं (अनर्थका हि मन्त्राः) इसकी पुष्टि में उन्होंने

अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, जिन्हें चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि वेद-निन्दकों ने भी अवान्तर काल में ग्रहण किया है। इन युक्तियों की परीक्षा आवश्यक है :—

(१) मन्त्रों के पद नियत हैं तथा शब्दक्रम भी नियत हैं। सामवेद का प्रथम मन्त्र है—अग्न आयाहि वीतये। इनमें पदों को समानार्थक शब्दों से परिवर्तन कर 'वह्ने आगच्छ पानाय' नहीं कह सकते। आनुपूर्वी (आगे-पीछे का क्रम) भी नियत है। मन्त्र में 'अग्न आयाहि' को बदल कर 'आयाह्यग्ने' नहीं कर सकते। इस नियतवाचोयुक्ति तथा नियतानुपूर्वी का क्या मतलब है? यदि मन्त्र सार्थक होते, तो सार्थक वाक्यों की शैली पर पदों का तथा पदक्रम का परिवर्तन सर्वथा न्याय्य होता।

(२) ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा मन्त्रों का विनियोग विशेष अनुष्ठानों में किया जाता है। यथा उरुप्रथस्व (शु० य० १।२२) इस मन्त्र को प्रथन कर्म—विस्तार कार्य में शतपथ ब्राह्मण (१।३।६।८) विनियोग करता है। यदि मन्त्रों में अर्थद्योतन की शक्ति रहती, तो स्वतः सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण के द्वारा विनियोग दिखलाने की क्या जरूरत होती?

(३) मन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न है अर्थात् उपपत्ति या युक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यजमान कह रहा है—ओषधे! त्रायस्व एनम् (ऐ ओषधि, तू वृक्ष की रक्षा कर)। भला निर्जीव ओषधि जो अपनी रक्षा में भी समर्थ नहीं है वह वृक्ष की रक्षा क्योंकर कर सकती है? यजमान स्वयं परशु का प्रहार वृक्ष पर कर रहा है, परन्तु परशु से कह रहा है कि—परशु, तू इसे न मार (स्वधिते मैनं हिंसीः)। वह मतवाला ही होगा जो मार तो स्वयं रहा है और न मारने की प्रार्थना कर रहा है! (अनुपपन्नार्था मन्त्रा भवन्ति)।

(४) वैदिक मन्त्रों में परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। रुद्र के विषय में एक मन्त्र पुकार कर कह रहा है—एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः [तैत्ति० सं० १।८।६।१] (रुद्र एक ही हैं, दूसरे नहीं), उधर दूसरा मन्त्र उनकी अनेकता का वर्णन डंके की चोट कर रहा है—असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (तै० सं० ४।५।११।५) अर्थात् पृथ्वी पर रुद्र असंख्य हजारों की संख्या में हैं। इस प्रकार एकता और अनेकता के झमेले में किसी तथ्य का निर्णय नहीं हो सकता (विप्रतिषिद्धार्था मन्त्राः)।

(५) वैदिक मन्त्रों में अर्थज्ञ पुरुष को कार्यविशेष के अनुष्ठान के वास्ते

सम्प्रेषण—(आज्ञा) दिया जाता है। जैसे होता से कहा जाता है—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (श० ब्रा० १।३।२।३) अर्थात् जलनेवाली अग्नि के लिए बोलो। होता अपने कर्त्तव्य कर्म से स्वतः परिचित होता है कि अमुक यज्ञ में अमुक कार्य का विधान उसे करना है। ऐसी दशा में संप्रेषण की उक्ति अनर्थक है।

(६) मन्त्रों में एक ही पदार्थ को अनेक रूपों में बतलाया गया है। यथा अदिति ही समस्त जगत् है। अदिति ही आकाश है। अदिति ही अन्तरिक्ष है (अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष...... ऋ० सं० १।८६।१०)। छोटा बच्चा भी जानता है कि आकाश और अन्तरिक्ष भिन्न देशवाची होने से आपस में अलग-अलग हैं। ऐसी दशा में अदिति के साथ इन दोनों की समानता बतलाना कहाँ तक उपयुक्त है ?

(७) मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्टरूपेण प्रतीत नहीं होता (अविस्पष्टार्था मन्त्राः) जैसे अम्यक् (ऋ० १।१६९।३), यादृस्मिन् ऋ० (५।४४।८), जारयायि, (ऋ० ६।१२।४) काणुका (ऋ० ८।७७।४), जर्भरी, तुर्फरी (ऋ० १०।१०६।६) आदि शब्दों का अर्थ साफ तौर से मालूम नहीं होता। कौत्स का यही समारोहपूर्ण पूर्वपक्ष है। इस पक्ष का खण्डन यास्क ने बड़ी सच्ची युक्तियों के सहारे किया है। यास्क का मुख्य सिद्धान्त है कि जितने शब्द हैं वे अर्थवान् होते हैं। लोकभाषा में यही नियम सर्वत्र काम करता है। वैदिक मन्त्रों के शब्द भी लोकभाषा के शब्द से भिन्न नहीं हैं। सुतरां लौकिक शब्दों के समान वैदिक शब्दों का भी अर्थ होना ही चाहिए (अर्थवन्तः शब्द सामान्यात्)। अनन्तर कौत्स के पूर्वपक्ष का क्रमशः खण्डन इस प्रकार है :—

(१) लौकिक भाषा में भी पदों का नियत प्रयोग तथा पद-क्रम का नियत रूप दृष्टिगोचर होता है। जैसे इन्द्राग्नी और पितापुत्रौ। इन प्रयोगों में न तो शब्द ही बदले जाते हैं और न इनका क्रम ही छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। ऐसा नियम न होने पर भी इनकी सार्थकता बनी ही रहती है।

(२) ब्राह्मणों में मन्त्रों का विनियोग-विधान उदितानुवादमात्र है, अर्थात् मन्त्रों में जिस अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट है उसी का केवल अनुवाद ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा किया जाता है।

(३) वैदिकमन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न नहीं है। परशु प्रहार करते समय भी जो अहिंसा कही गई है वह वेद के द्वारा सिद्ध है। परशु के द्वारा

वृक्ष का छेदन आपाततः हिंसा का सूचक अवश्य है, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि परशु-छेदन वस्तुतः हिंसा नहीं है। विधिपूर्वक किसी शाखा का यज्ञ के लिये छेदन करना अनुग्रह है, हिंसा नहीं।

(४) रुद्र की एकता तथा अनेकता के उल्लेख करनेवाले मन्त्रों में पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि महाभाग्यशाली देवता की यही महिमा है कि वह एक होते हुए भी अनेक विभूतियों में वर्तमान रहता है। इन्द्र को अशत्रु तथा शत्रुविजेता मानने में भी कोई विरोध नहीं है। यह वर्णन रूपक-कल्पना पर अवलम्बित है। लोक में भी शत्रुसम्पन्न होने पर भी राजा शत्रुहीन बतलाया जाता है।

(५) अनुष्ठान से परिचित व्यक्ति को भी दी गई आज्ञा (सम्प्रेषण) व्यर्थ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि विशिष्ट अतिथि के आगमन पर मधुपर्क का देना सबको विदित है, परन्तु फिर भी लोक व्यवहार में विधिज्ञ पुरुष से तीन बार मधुपर्क मांगने की चाल है। ऐसी दशा में ब्राह्मणग्रन्थों का सम्प्रेषण निरर्थक नहीं है।

(६) अदिति को सर्वरूपात्मक बतलाने का अभिप्राय उसकी महत्ता दिखलाने में है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर भक्त अदिति से कह रहा है कि जगत् के समस्त पदार्थ तुम ही हो।

(७) मन्त्रों का अर्थ यदि स्पष्टरूपेण ज्ञात नहीं होता, तो उसके जानने का उद्योग करना चाहिए। निरुक्तग्रन्थ में शब्दों का धातुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अर्थ विधान की सुचारु व्यवस्था की गई है। अपना दोष दूसरों के मत्थे मढ़ना कहाँ तक ठीक है। यदि सामने खड़े वृक्ष को अन्धा नहीं देखता, तो इसमें बेचारे गरीब पेड़ का कौन-सा अपराध है? यह तो पुरुष का अपराध है (नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति)। इसी प्रकार अर्थ-विवेचक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, उपयोगी ग्रन्थों के अभ्यास विना किए मन्त्रों पर अनर्थक होने का दोषारोप करना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है। 'अम्यक्' का अर्थ है प्राप्नोति (पहुँचता है), 'यादृस्मिन्' का यादृशः (जिस प्रकार का), 'जर्भरी' का अर्थ है भर्तारौ (भरण करनेवाले) तुर्फरी का अर्थ है हन्तारौ (मारनेवाला)[1]

---

१. जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में (१।२।३१—५३) बड़े ऊहापोह के

वैदिक मन्त्रों का अर्थ नितान्त गूढ है। उनके समझने के लिये आर्ष-दृष्टि चाहिए या ऋषि-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण। मन्त्रों के शब्दों में व्याकरण-सम्बन्धी सरलता होने पर भी उनके द्वारा अभिधेय अर्थ का पता लगाना नितान्त दुरूह व्यापार है। गूढार्थता के लिये इस मन्त्र के रहस्यवाद की ओर दृष्टिपात किया जाय।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आ विवेश ॥
[ऋ० ४।५८।३]

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है—"चार इसकी सींगें हैं, तीन पैर हैं, दो सिर, सात हाथ। तीन प्रकार से बाँधा गया यह वृषभ (बैल अथवा अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा करनेवाला) जोर से चिल्ला रहा है। महादेव ने मरणशील वस्तुओं में प्रवेश किया।" परन्तु प्रश्न है कि विचित्र वेषधारी महादेव वृषभ है कौन? यास्क ने इस रहस्योद्घाटन की कुञ्जी हमारे लिये तैयार कर दी है। किसी के मत से यह महादेव यज्ञ है। चारों वेद इसकी चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन सवन (सोमरस निकालने के प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीन काल) हैं; दो शिर हैं प्रायणीय तथा उदयनीय नामक हवन; सातों हाथ हैं सातों छन्द। यह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प के द्वारा त्रिधा बद्ध है। इस प्रकार यज्ञरूपी महादेव ने यजन के लिये मनुष्यों में प्रवेश किया है (निरुक्त १३।७)। दूसरों का मत है कि यह महादेव सूर्य है जिसकी चारों दिशाएँ चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन; सात हाथ है सात प्रकार की किरणें। सूर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध है अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत इन तीन ऋतुओं का उत्पादक है। अतः वह 'त्रिधा बद्ध' मन्त्र में कहा गया है। पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में इस मन्त्र की शब्द-परक व्याख्या की है। उनकी सम्मति में यह महादेव शब्द है, क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात); भूत वर्तमान, भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं। दो सिर हैं दो प्रकार की भाषाएँ नित्य तथा कार्य। सातों हाथ हैं, प्रथमादि सातों विभक्तियाँ। शब्द का उच्चा

साथ इसी प्रकार मन्त्रों की सार्थकता प्रदर्शित की है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में इस विषय का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

रण तीन स्थानों—हृदय, गला और मुख से होता है। अतः वह तीन प्रकार से बद्ध भी है। अर्थ की वृष्टि करने से शब्द वृषभ पदवाच्य है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इस मन्त्र की व्याख्या काव्यपुरुष की स्तुति के विषय में किया है। सायण भाष्य में इनसे अतिरिक्त अर्थों का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रत्येक अर्थ परम्परा पर अवलम्बित होने के कारण माननीय तथा आदरणीय हैं। मन्त्रों के गूढार्थ की यही विशेषता है कि उनका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जा सकता है। यास्क ने इस प्रसङ्ग में आधे दर्जन मतों की चर्चा की है, जिनमें वैयाकरण, परिव्राजक, ऐतिहासिक तथा याज्ञिक आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न पन्थों के समर्थक आचार्यों के मतों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। परम्परामूलक होने के कारण इन आचार्यों के कथनों पर हम अप्रामाणिकता का लांछन लगाकर उन्हें हँसी-लेख में उड़ा नहीं सकते।

तो इन गम्भीरार्थवाचक मन्त्रों की व्याख्या करने का कौन-सा साधन हमारे पास है? किस प्रकार ये मन्त्र अभीष्ट अर्थ को प्रतिपादन कर सकते हैं? यास्क का इस प्रश्न का उत्तर बहुत उपादेय, उल्लेखनीय तथा विवेचनीय है। निरुक्तपरिशिष्ट (१३।११) में उनका स्पष्ट कथन है—मन्त्रों का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया जा सकता है। मन्त्रों की व्याख्या अलग-अलग न करनी चाहिए, बल्कि प्रकरण के अनुरूप होनी चाहिए। जो मनुष्य न तो ऋषि है, न तपस्वी है, वह वेद के अर्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता। [अयं मन्त्राभ्यूहो ऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः। न तु प्रकरणेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेः अतपसो वा (नि० १३।११)] यास्क ने इस प्रकार सब से अधिक महत्त्व श्रुति—आचार्य मुख से परम्परा से सुना गया अर्थ या इस प्रकार के ज्ञान के संग्रह ग्रन्थ (ब्राह्मण) को दिया है। परम्परा के अतिरिक्त इन गूढार्थक ग्रन्थों का रहस्य किस प्रकार जाना जा सकता है? मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट अर्थ की परम्परा को जाननेवाला व्यक्ति ही मन्त्र की अर्थ-विवेचना में सर्वथा कृतकार्य हो सकता है। यास्क का इस परम्परा के लिये विशेष अभिधान है—पारोवर्य। परन्तु इस परम्परा को विशिष्ट विद्याओं के अनुशीलन से परिपुष्ट करने की आवश्यकता होती है। इसीलिये सम्प्रदायवेत्ता पुरुषों में भी अनेक विद्याओं के ज्ञाता पुरुष का दर्जा कहीं

अधिक बढ़कर होता है [पारोवर्यवित्सु च खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति] (निरुक्त १।१६)। दूसरा साधन तर्क है। तर्क की भी महिमा महनीय है। यास्क के द्वारा उद्धृत एक प्राचीन ब्राह्मण का कथन है कि ऋषियों के स्वर्गगमन के अवसर पर मनुष्य ने देवताओं से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा ? तब देवताओं ने मन्त्रार्थ-चिन्तन के वास्ते तर्क को ही ऋषि बनाकर दे दिया। अतः तर्क की भी गरिमा माननीय है। मीमांसा की गणना तर्क के भीतर की जा सकती है। मीमांसा का कार्य वेदार्थ-चिन्तन ही है। प्रायः वैदिक कर्मकलापों के अनुष्ठान में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है। इन आपाततः विरोधी अंशों में विरोध का परिहार कर एकवाक्यता दिखलाना मीमांसा की विशेषता है। अतः वेदों के रहस्य जानने के लिए मीमांसा का उपयोग यथार्थ है। तीसरा साधन तप है। तप से अभिप्राय गाढ चिन्तन, गम्भीर ध्यान तथा मनन प्रतीत होता है। इन साधनों से युक्त पुरुष ही मन्त्रों का यथार्थ अर्थ-निरूपण कर सकता है। वेदाङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि—की भी उपयोगिता वैदिक मन्त्र के अनुशीलन के वास्ते ही है। इनमें सुरक्षित परम्परागत सिद्धान्त की सहायता से वेद का मौलिक अर्थ भली भाँति जाना जा सकता है। इसी कारण महाभारत इतिहास-पुराण को वेदार्थ के उपबृंहण का साधन स्वीकार करता है—

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

इस कसौटी पर कसने से भारतीय वेदभाष्यकारों—स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य आदि—के भाष्य बिल्कुल खरे उतरते हैं। उन्होंने आवश्यक समग्र सामग्री का उपयोग बड़ी विवेचक बुद्धि के साथ किया है। निरुक्तकार ने शब्दों की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत कर दी हैं उनका उपयोग समस्त पिछले भाष्यकारों ने किया है। यह भी याद रखने की बात है कि निरुक्त की व्याख्याएँ ब्राह्मणग्रन्थों में अधिकतर हू-बहू पाई जाती हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिस वेदार्थ का उद्घाटन किया गया उपलब्ध होता है उसी का अनुसरण भाष्यकारों के भाष्यों में हम पाते हैं। वेदार्थानुशीलन का सम्प्रदाय अविच्छिन्न रूप से चलता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यास्क ने वैदिक मन्त्रों का जो अर्थ किया है, उसी का अनुसरण हम भिन्न-भिन्न शताब्दियों में होने-वाले स्कन्दस्वामी, माधवभट्ट तथा सायण के व्याख्यानों में पाते हैं। निरुक्त

के अतिरिक्त वेदाङ्ग, मीमांसा, इतिहास तथा पुराणों से आवश्यक सामग्री को ग्रहण कर इन व्याख्याताओं ने अपने व्याख्यानों को परिपुष्ट किया है। इस प्रकार वेदार्थ-चिन्तन की वही पद्धति हमें माननीय है जो सायण आदि भाष्यकर्ताओं के ग्रन्थों में हमें मिलती है।

यूरोपियन विद्वानों के द्वारा उद्भावित ऐतिहासिक पद्धति का रहस्य समझ लेना यहाँ अनुचित न होगा। इन विद्वानों के आद्य आचार्य शर्मण्य-देशीय डा० राथ महोदय हैं। जिनका स्पष्ट कथन है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्र आदि उपादानों की सहायता से एक विदेशी यूरोपियन वेद का अर्थ जितना समझ सकता है उतना भारतीय टीकाकार कभी भी नहीं समझ सकता। अधिकांश पाश्चात्य वैदिक स्कालर इसी मत के अनुयायी हैं। वे सायण के भाष्य को कौन कहे, यास्क की व्याख्याओं की भी हँसी उड़ाने में तनिक भी नहीं चूकते। उन्होंने अपनी विचित्र धारणा बना रखी है कि भारतीय परम्परा का लोप बहुत पहले हो चुका है; अतः वैदिक मन्त्रों के समझने के लिए ईरान, असीरिया, यूनान, लिथुएनिया आदि विदेशी जातियों के रहन-सहन, आचार विचार की सहायता नितान्त उपयुक्त है। भाषाशास्त्र आदि उपयोगी शास्त्रों की अवहेलना के हम पक्षपाती नहीं हैं, परन्तु यह भी भुलाना नहीं चाहते कि वेद भारतीय ग्रन्थरत्न हैं, जिनके द्वारा समग्र भारतीय हिन्दू समाज हजारों वर्षों से अनुशासित होता आया है और जो इतिहास, पुराण, स्मृति आदि समग्र पिछले संस्कृत वाङ्मय का एकमात्र उपजीव्य है। ऐसी विषम परिस्थिति में इन आवश्यक उपादानों का तिरस्कार कर केवल ऐतिहासिक पद्धति को हम दोष-शून्य कैसे मान लें? पाश्चात्यों की वैदिक साहित्य को लोकप्रिय बनाने की सेवा का हम आदर करते हैं, परन्तु उन्होने बड़े अभि-निवेश से सायण के व्याख्यानों की जो अग्राह्यता मनमाने ढंग से दिखलाई है वह वेदज्ञाताओं के प्रचुर उपहास का पात्र है। निष्पक्ष होकर सोचना चाहिए कि भारतीय संस्कारों से संस्कृत, भारतीय विद्याओं तथा सम्प्रदाय से नितान्त परिचित सायण की व्याख्याओं में हम आस्था रखें अथवा हिन्दु सम्प्रदाय से अनभिज्ञ, अभारतीय वायुमण्डल में शिक्षित-दीक्षित राथ, वेबर, ओल्डनबर्ग आदि पाश्चात्यों की कल्पना-प्रसूत व्याख्याओं में श्रद्धा जमावें।

परम्परा तथा भाषाविज्ञान को एक दूसरे के शोधक रूप से ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत होता है। कभी-कभी भाषाविज्ञान की झोंक में आकर

इस शास्त्र का विद्वान् मनमानी ऊटपटाँग कल्पना कर सम्भावनाओं के दलदल में बेतरह फँस जाता है। एक-दो शब्दों का उदाहरण लिया जाय। ऋग्वेद में 'शिश्नदेव' शब्द दो बार (७।२१।५ ; १०।१०।६६) आया हुआ है। इस शब्द का अर्थ यास्क ने 'अब्रह्मचर्य' किया है। (नि० ४।१६) जो देव शब्द के लाक्षणिक अर्थ को लेकर एकदम ठीक है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का आग्रह है कि इस शब्द से लिङ्गपूजा करनेवाले व्यक्तियों की ओर संकेत है और इसी आधार पर वे ऋग्वेद में लिङ्गपूजा का प्रचलन मानने को कटिबद्ध हैं। मातृदेव, पितृदेव, श्राद्धदेव के समान शिश्नदेव की गति समझना चाहिए, जहाँ 'देव' शब्द वाच्यार्थ में न प्रयुक्त होकर लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त किया गया है। दशमण्डल का सुप्रसिद्ध मन्त्र है—कस्मै देवाय हविषा विधेम। यहाँ सायणादि समस्त भाष्यकार 'कस्मै' पद से प्रजापति का अर्थ ग्रहण करते हैं। साहब लोग इसे गलत बतलाकर इसका प्रश्नार्थ में प्रयोग मानते हैं। परन्तु भारतीय परम्परा इससे विपरीत है। संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थानों पर 'कः' प्रजापति तथा प्रश्न अर्थ में आता है। ब्राह्मण इसे "अतिरिक्त" (जिसकी व्याख्या न की जा सके) बतलाते हैं। 'कः' अर्थात् 'अनिर्वचनीयः'। प्रजापति को न तो हम 'इदं' रूप से जान सकते हैं न 'ईदृक्' रूप से। अतः कथमपि निर्वचनीय न होने से प्रजापति के लिये 'किम्' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उचित तथा युक्तियुक्त है। गृह्यसूत्रों में गर्भाधान के अवसर पर एक विधान का निर्देश है—कूर्मपित्तम् अंके निधाय जपति। जिसका प्रकाण्ड विद्वान् डा० ओल्डनवर्ग ने अक्षरशः अर्थ किया है—कूर्मस्य पित्तं—कछुआ का पित्त (bile of tortoise); हालांकि इसका साम्प्रदायिक टीकाकारों के द्वारा प्रदत्त अर्थ है जलपूर्ण शराव = जल से भरा घड़ा। प्रकरण देखकर भी कहा जा सकता है कि साहबी अर्थ अप्राकरणिक, असङ्गत तथा अभारतीय है। पुरुषसूक्त में वर्णित सहस्रशीर्षा पुरुष की वैदिक कल्पना को स्कैनडिनेविया के किसी दानव की कल्पना से तुलना करना इसी प्रकार चिन्त्य है। हर्ष का विषय है कि सायण के अर्थ के प्रति पाश्चात्यों की भी श्रद्धा बढ़ने लगी है। डा० पिशेल तथा डा० गेल्डनर ने 'वेदिशेस्तूदियन' में प्रमाणपुरःसर सायण के परम्परागत अर्थ का औचित्य स्वीकार किया है। हमारी तो यह चिरविचारित धारणा है कि भारतीय वैदिक भाष्य के प्रकाश में ही हम वेद के अर्थ को देख सकते हैं। सायण ही वेदार्थ-चिन्तन में हमारे प्रधान पथ-प्रदर्शक हैं। उनके विना हमें घने अन्धकार में टटोलने पर भी राह नहीं मिल सकती।

षोडश परिच्छेद

वेदार्थानुशीलन का इतिहास

वेदों के अर्थानुशीलन का इतिहास बड़ा प्राचीन है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक वेदों के गूढ अर्थ के परिज्ञान की ओर विद्वानों ने अश्रान्त परिश्रम किया है। इस इतिहास को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं (१)—प्राचीन काल, (२)—माध्यमिक काल, (३)—अर्वाचीन काल।

प्राचीन काल

संहिता की रचना के अनन्तर ही उनके रहस्यमय मन्त्रों के अर्थ समझाने की प्रवृत्ति जागरूक हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का प्रथम प्रयास दृष्टिगत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन तो विद्यमान है ही, साथही साथ उनमें मन्त्रों का भी अर्थ न्यूनाधिक मात्रा में किया गया मिलता है। शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। इन व्युत्पत्तियों को बड़े आदर के साथ निरुक्तकार ने 'इति ह विज्ञायते' कहकर निरुक्त में उद्धृत किया है। तथ्य की बात यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विकीर्ण सामग्री के आधार पर ही निघण्टु तथा निरुक्त की रचना पीछे की गई। मन्त्रों के पदकार ऋषियों ने भी वेदार्थ के समझने में हमारी बड़ी सहायता की है। प्रत्येक मन्त्र के अवान्तर-रभूत पदों का पृथक्करण कर प्राचीन ऋषियों ने तत्तत् संहिताओं के 'पदपाठ' भी निर्मित किये हैं। इससे मन्त्रों के अर्थ का परिचय भलीभाँति मिल जाता है। इन पदपाठ के कर्ता ऋषियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

शाकल्य—इन्होंने ऋग्वेद का 'पदपाठ' प्रस्तुत किया है। बृहदारण्यक उप० में शाकल्य का जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ करने का वर्णन उपलब्ध होता है (अ० ४)। पुराणों के अनुसार ये ही शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठ के रचयिता भी हैं। ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग, द्वितीय पाद, अ० ३४) का कथन है—

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः ॥ ३२ ॥

देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः ।
जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः ॥ ३३ ॥

शाकल्य का उल्लेख निरुक्त में तथा ऋक् प्रातिशाख्य में मिलता है। अतः इन्हें उपनिषत्कालीन ऋषि मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। यास्क ने अपने निरुक्त में कहीं-कहीं इनके पदपाठ को स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणार्थ निरुक्त ५।२१ में 'अरुणो मासकृद्वृकः' (१०५।१८) की व्याख्या में यास्क ने 'मासकृत्' को एकपद मानकर 'मासों का कर्त्ता' अर्थ किया है, परन्तु शाकल्य ने यहाँ दो पद (मा, सकृत्) माना है। निरुक्त (६।२८) में 'वने न वायो' (ऋ० १०।२६।१) मन्त्र उद्धृत किया गया है। यहाँ 'वायः' को शाकल्य ने दो पद माना है (वा+यः)। इसका उल्लेख कर यास्क ने इसे अग्राह्य माना है। वे इसे एक ही पद मानते है। 'वायः' का यास्कसम्मत अर्थ है—'पत्नी'। इस प्रकार निरुक्त में कहीं-कहीं इनके मत का अनुमोदन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त रावण कृत पदपाठ का भी अस्तित्व मिलता है। रावण ने ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य भी लिखा है। साथ ही साथ पदपाठ भी प्रस्तुत किया है। यह पदपाठ शाकल्य का अनुकरण नहीं है, प्रत्युत अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार नवीन पदपाठ दिया है।

यजुर्वेद के भी पद पाठ उपलब्ध हैं। माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ तो बम्बई से मुद्रित हो चुका है, परन्तु काण्वसंहिता का पदपाठ अभी तक अमुद्रित है। इनके रचयिताओं का पता नहीं चलता। तैत्तिरीय संहिता के पदपाठकार का नाम आत्रेय है। इसका निर्देश भट्ट भास्कर ने अपने 'तैत्तिरीय संहिता भाष्य' के आरम्भ में किया है—उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे। इसीलिए 'काण्डानुक्रमणी' में आत्रेय पदकार कहे गये हैं। (यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः)। बोधायन गृह्य (३।६।७) में ऋषितर्पण के अवसर पर पदकार आत्रेय को भी तर्पण करने का उल्लेख है। (आत्रेयाय पदकाराय) ये आत्रेय शाकल्य के ही समकालीन प्रतीत होते हैं।

सामवेद के पदकार गार्ग्य हैं, जिनके नाम तथा कार्य का समर्थन हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों से मिलता है। निरुक्त (४।३।४) में 'मेहन' शब्द के प्रसङ्ग में बड़ी रोचक बातें प्रस्तुत की गई हैं। दुर्गाचार्य का कथन है कि ऋग्वेदियों के अनुसार यह एक ही पद है, पर छान्दोग्यों (सामवेदियों) के अनुसार यहाँ तीन पद हैं (म, इह, न) यास्क ने दोनों पदकारों—शाकल्य

तथा गार्ग्य—के मतों का एकत्र समीकरण किया है।[१] इस प्रसङ्ग में सामपद कार 'गार्ग्य' के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। स्कन्दस्वामी की भी यही सम्मति है—एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः'। गार्ग्य के पदपाठ की विशेषता यह है कि इसमें पदों का छेद बहुत ही अधिक मात्रा में किया गया है। मित्रं का पद पाठ है। मित्रम्, अन्ये का अन्+ये। समुद्रः का सम्+उद्रम्। इन पदपाठों को प्रामाणिक मान कर यास्क ने अपनी निरुक्ति भी ठीक इन्हीं के अनुरूप दी है। प्रमीतेः त्रायते इति मित्रः (१०।२१) = मरण से जो त्राण करता है वर्षादान से, वही मित्र—सूर्य है। समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः = जल जिससे बहता रहे, वह है समुद्र (२।१०) आदि गार्ग्य की यह विशेषता ध्यान देने की वस्तु है। अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के अनुरूप ही है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता।

इन विभिन्न पदकारों में ऐकमत्य नहीं है। जिसे एक आचार्य एक पद मानता उसे ही दूसरे विद्वान् दो-दो या तीन-तीन पद मानते हैं। इस पद्धति के लिए अवश्य ही प्राचीन समय में कोई परम्परा रही होगी। 'आदित्य' शब्द के विषय में निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का इस प्रकार उल्लेख किया है—शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधिवासम्' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु अधिवासमिति अवगृहीतम् (२।१३)

स्कन्दस्वामी का अभिप्राय यह है कि पदकारों का तात्पर्य विचित्र ही होता है। उपसर्ग होने पर कोई अवग्रह नहीं देते और कोई सामान्य नियम से देते हैं। 'अधिवास' शब्द में शाकल्य अवग्रह नहीं मानते, आत्रेय मानते हैं। जो कुछ भी कारण हो। वेदार्थ के अनुशीलन का प्रथम सोपान है—यही पदपाठ। विना पद रूप जाने अर्थ का ज्ञान क्या कभी हो सकता है? पदपाठ के लिए भी व्याकरण के नियमों का आविष्कार बहुत पहिले ही हो चुका होगा।

---

[१] बह्वृचानां 'मेहना' इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि—म, इह, न इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेण उभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। पृ० २७६ (दुर्गवृत्ति—वेंकटेश्वर संस्करण)

पदपाठों के अनन्तर निघण्टु का काल आता है। 'निघण्टु' संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आजकल उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसी के ऊपर महर्षि यास्क रचित 'निरुक्त' है। कतिपय विद्वान् यास्क को ही 'निघण्टु' का भी रचयिता मानते[1] हैं परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ में 'निघण्टु' 'समाम्नाय' कहा गया है। और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है उससे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है।[2] महाभारत (मोक्षधर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं —

वृषोहि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥
कपिर्वराह; श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

वर्तमान निघण्टु में 'वृषाकपि' शब्द संगृहीत किया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत काल में प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय वर्तमान हैं। आदिम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते हैं। चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत काण्ड' कहलाता है। प्रथम तीन अध्याय में तो पृथ्वी आदि के बोधक अनेक पदों का एकत्र संग्रह है। द्वितीय काण्ड को 'ऐकपदिक' भी कहते हैं। 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति-प्रत्यय का यथार्थ अवगमन नहीं होता—'अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्।' दैवतकाण्ड में देवताओं का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार

आजकल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है और इसके कर्ता का नाम है—देवराजयज्वा। इनके पितामह का भी नाम था—देवराज यज्वा और पिता का नाम था—यज्ञेश्वर। ये रंगेशपुरी के पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। नाम से प्रतीत होता है कि ये सुदूर दक्षिण के निवासी थे। इनके समय के विषय में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग इन्हें सायण से

[1] वैदिकसाहित्य का इतिहास, [2] दुर्गवृत्ति पृ० २।

भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु इन्हें सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद (१। ६२। ३) के भाष्य में 'निघण्टु भाष्य' के वचनों का निर्देश किया है जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होता है। सिवाय इस भाष्य के 'निघण्टुभाष्य' कोई विद्यमान ही नहीं है। देवराज ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'निघण्टु व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इदं च ... क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्यादि कृतां निघण्टु व्याख्यां...निरीक्ष्य क्रियते'। अनन्ताचार्य का निर्देश तो यहाँ प्रथम बार ही हमें मिलता है। क्षीरस्वामी के मत का निर्देश यहाँ बहुलता से किया गया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। देवराज के उद्धरण अमरकोष टीका (अमरकोशोद्घाटन) में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः 'निघण्टुव्याख्या' से देवराज का अभिप्राय इसी अमर व्याख्या से ही प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है—निघण्टु निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (विरचयति देवराजो नैघण्टुककाण्डनिर्वचनम्—६)। अन्य काण्डों की व्याख्या बहुत ही अल्पाकार है। इस भाष्य का उपोद्घात वैदिक भाष्यकारों के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी ही प्रामाणिक और उपादेय है। इसमें आचार्य स्कन्दस्वामी के ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्तभाष्य टीका से विशेष सहायता ली गई है। प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बड़ा ही सुन्दर है। सायण पूर्व होने से देवराज की व्याख्या तथा निरुक्ति का विशेष महत्त्व है।

प्रसिद्ध तान्त्रिक भास्कर राय रचित एक छोटा ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें निघण्टु के शब्द अमर की शैली पर श्लोकबद्ध कर दिये गये हैं। इससे इन्हें याद करने में बड़ा सुभीता होता है।

निरुक्त काल

निरुक्तयुग—निघण्टुकाल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में १४ थे—निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम् (दुर्गवृत्ति १।१३)। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार हैं—(१) आग्रायण; (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णवाभ,

(५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि, (१२) स्थौलाष्ठीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इनसे अतिरिक्त १४वाँ निरुक्तकार कौन था? इसका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। ऊपर निर्दिष्ट निरुक्तकारों के विशिष्ट मत की जानकारी निरुक्त के अनुशीलन से भली भाँति लग सकती है।[1] इन ग्रन्थकारों में 'शाकपूणि' का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। निरुक्त के अतिरिक्त बृहद्देवता में भी इनका मत निर्दिष्ट किया गया है। बृहद्देवता तथा पुराणों में शाकपूणि को 'रथीतर शाकपूणि' नाम से स्मरण किया गया है तथा यास्क से इन्हें विरुद्धमत माननेवाला कहा गया है।

यास्क का निरुक्त

'निरुक्त' वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क रचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र गन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट वाले अध्याय भी अर्वाचीन नहीं माने जा सकते, क्योंकि सायण तथा उव्वट इन अध्यायों से भली भाँति परिचय रखते हैं। उव्वट ने यजुर्वेदभाष्य (१८।७७) में निरुक्त १३।१२ में उपलब्ध वाक्य को निर्दिष्ट किया है। अतः इस अंश का भोजराज से प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है।

निघण्टु तथा निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध बोधक विवरण

निघण्टु		निरुक्त
		१ अध्याय (भूमिका)
(१) नैघण्टुक काण्ड[2] (गौः—अपारे)	१ अध्याय २ ,, ३ ,,	२ अध्याय ३ अध्याय

---

[1]वैदिक वाङ्मय का इतिहास (१।२) पृ० १६६-१८०

[2]इस काण्ड में सब मिलाकर १३४१ पद हैं जिनमें से केवल साढ़े तीन सौ पदों की निरुक्ति यास्क ने यत्र तत्र की है। स्कन्दस्वामी ने इनसे भिन्न दो सौ पदों की व्याख्या की है—ऐसा देवराज का कथन है (पृ० ३)

(२) नैगम काण्ड ४ अध्याय

(जहा-ऋषीसम्)	(क)	१ खण्ड-६२ पद	४ अध्याय	
	(ख)	२ खण्ड-८४ ,,	५ अध्याय	
	(ग)	३ खण्ड-१३२ ,,	६ अध्याय	
			पूर्व षट्क	

(३) दैवत काण्ड ५ अध्याय

(अग्नि-देवपत्नी) पृथ्वी स्थान	(क)	१ खण्ड-	३ पद	७ अध्याय	(देवताविषयक विशिष्ट भूमिका के साथ)
	(ख)	२ ,,	१३ ,,	८ ,,	
	(ग)	३ ,,	३६ ,,	९ ,,	
अन्तरिक्ष	(घ)	४ ,,	३२ ,,	१० ,,	
	(ङ)	५ ,,	३६ ,,	११ ,,	
आकाश	(च)	६ ,,	३१ ,,	१२ ,,	
				उत्तरषट्क	

यास्क की प्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। ये पाणिनि से भी प्राचीन हैं। संस्कृतभाषा का जो विकाश इनके निरुक्त में मिलता है वह पाणिनीय अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है। महाभारत के शान्तिपर्व में (अ० ३४२) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्कऋषिरुदारधीः।
यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं। यास्क के इस ग्रन्थ की महत्ता बहुत ही अधिक है। ग्रन्थ के आरम्भ में यास्क ने निरुक्त के सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रदर्शन किया है। इनके समय में वेदार्थ के अनुशीलन के लिए अनेक पक्ष थे, जिनका नाम इस प्रकार दिया गया है—(१) अधिदैवत; (२) अध्यात्म; (३) आख्यान समय; (४) ऐतिहासिकाः; (५) नैदानाः, (६) नैरुक्ताः, (७) परिव्राजकाः, (८) पूर्वे याज्ञिकाः, (९) याज्ञिकाः। इस मत निर्देश

से वेदार्थानुशीलन के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। यास्क का प्रभाव अवान्तरकालीन वेदभाष्यकारों पर बहुत ही अधिक पड़ा है। सायण ने इसी पद्धति का अनुसरण कर वेदभाष्यों की रचना में कृतकार्यता प्राप्त की है। यास्क की प्रक्रिया आधुनिक भाषा वेत्ताओं को भी प्रधानतः मान्य है। निरुक्त का एक मात्र प्रतिनिधि होने के कारण इसका महत्त्व सर्वातिशायी है।

निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान-स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसके अर्थ समझने के लिये माथापच्ची करनी पड़ती है। तिस पर उसका पाठ यथार्थरूप से परम्परया प्राप्त भी नहीं होता। भाषा की दुरुहता के साथ-साथ उसके पाठ भी स्थान-स्थान पर इतने भ्रष्ट हैं कि दुर्ग जैसे विद्वान् टीकाकार को भी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है। निरुक्त की व्याख्या करने की ओर विक्रम से बहुत पूर्व विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसका पता हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से ही चलता है। अष्टाध्यायी ४।३।६६ के भाष्य में वे लिखते हैं—"शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसृततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।" परन्तु पतञ्जलि का संकेत किस व्याख्यान की ओर है इसका पता नहीं चलता।

सबसे विस्तृत तथा सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है वह है दुर्गाचार्यवृत्ति। परन्तु यह इस विषय का आदिम ग्रन्थ नहीं है, इतना तो निश्चित ही है। दुर्गवृत्ति में चार स्थलों[1] पर किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, प्रसङ्ग से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था। निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है अतएव उसके ऊपर वार्तिक की रचना अयुक्त नहीं। निरुक्त वार्तिक की सत्ता एक अन्य ग्रन्थ से भी प्रमाणित होती है। मण्डन मिश्र रचित 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की 'गोपालिका टीका' में निरुक्त वार्तिक से छः श्लोक उद्धृत किये गये हैं। और ये सब श्लोक निरुक्त १।२० की व्याख्यारूप हैं। अतः इन दोनों प्रमाणों को एकत्र करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरुक्त ग्रन्थ अवश्य था और अत्यन्त प्रचीन भी था। परन्तु अभी तक इस ग्रन्थ का पता

---

[1] निरुक्त वृत्ति १।१, ६।३१, ८।४१। ११।१२

नहीं चलता। यदि इसका उद्धार हो जाय तो वेदार्थानुशीलन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रामाणिक वस्तु प्राप्त हो जाय। बर्बर स्वामी की टीका की भी यही दशा है। स्कन्द स्वामी ने इन्हें पूर्व के टीकाकारों में उल्लिखित किया है[1] तथा इन्हें दुर्गाचार्य से भी प्राचीनतर माना है। जब तक इस ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती तब हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि बर्बर स्वामी पूर्व निर्दिष्ट वार्तिककार से भिन्न हैं या अभिन्न।

दुर्गाचार्य

निरुक्त के प्राचीन उपलब्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ही हैं, परन्तु ये आद्य टीकाकार नहीं हैं। इन्होंने अपनी वृत्ति में प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या की ओर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। वेदों के ये कितने बड़े मर्मज्ञ थे इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है। इस वृत्ति में निरुक्त की तथा उसमें उल्लिखित मन्त्रों की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। निरुक्त का प्रति शब्द उद्धृत किया गया है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र निरुक्त का शाब्दिक रूप खड़ा किया जा सकता है। विद्वत्ता तो इनकी इतनी अधिक है, साथ ही साथ इनकी नम्रता भी श्लाघनीय है। निरुक्त के दुरूह अंशों की व्याख्या करने के अवसर पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ऐसे कठिन मंत्रों के व्याख्यान में विद्वान् की भी मति रुद्ध जाती है। हम तो इसके विषय में इतना ही जानते हैं—

'ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुःखबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वयं त्वेतावदत्रावबुद्ध्यामह इति।' ७।३१

कहीं-कहीं इन्होंने स्वयं नवीन पाठ की योजना की है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने निरुक्त के अर्थ में बड़ी छान बीन से काम लिया है। यदि हमें यह आज उपलब्ध नहीं होती तो निरुक्त का समझना एक दुरूह ही व्यापार होता। परन्तु दुःख की बात है कि दुर्गाचार्य के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। ४।१४ निरुक्त में इन्होंने अपने को कापिष्ठल शाखाध्यायी वसिष्ठगोत्री लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है—

---

[1] तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य।

इति जंबूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ......ऽध्यायः समाप्तः ।

ये जंबूमार्ग आश्रम के निवासी थे। परन्तु यह स्थान है कहाँ ? डा० लक्ष्मणस्वरूप इसे काश्मीर रियासत का जम्बू मानते हैं परन्तु पं० भगवद्दत्त का अनुमान ज्यादा सयुक्तिक मालूम पड़ता है कि वे गुजरात प्रान्त के निवासी थे। वे मैत्रायणी संहिता से अधिक उद्धरण देते हैं। यह संहिता गुजरात प्रान्त में किसी समय प्राचीनकाल में बहुत ही प्रसिद्ध थी। इस अनुमान का यही आधार है। दुर्गवृत्ति की सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ सम्वत् की है। अतः दुर्ग इससे प्राचीन अवश्य होंगे। श्रीभगवद्दत्त ने सप्रमाण दिखलाया है कि ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ दुर्गाचार्य से परिचित हैं। अतः दुर्ग का समय विक्रम के सप्तम शतक से प्राचीन है।

निरुक्त के अन्य टीकाकारों में स्कन्ध महेश्वर की टीका लाहौर से अभी प्रकाशित हुई है। यह टीका विद्वत्तापूर्ण तथा प्रामाणिक है। ये स्कन्ध स्वामी ऋग्वेद के भाष्यकार ही हैं। वररुचिकृत 'निरुक्त समुच्चय' नामक ग्रन्थ का परिचय श्री भगवद्दत्त ने अपनी पुस्तक में दिया है। यह निरुक्त की व्याख्या नहीं परन्तु निरुक्त के सिद्धान्तानुसार लगभग सौ मन्त्रों की व्याख्या है। निरुक्त की इन टीकाओं के अनुशीलन करने से हम अनेक ज्ञातव्य विषयों पर पहुँच सकते हैं। निरुक्त तथा उसकी वृत्तियों में दिये गये संकेतों को ग्रहण कर मध्यकालीन भाष्यकार वेद का भाष्य करने में कृतकार्य हुये हैं। इस बात पर ध्यान देने से इस युग के व्याख्या-ग्रन्थों की महत्ता भली भाँति ध्यान में आ जाती है।

२—मध्य काल

गुप्तकाल में वैदिक धर्म का महान् अभ्युदय हुआ। इतिहास वेत्ता पाठक भली भाँति जानते हैं कि गुप्त सम्राट् 'परमभागवत' की उपाधि से अपने को विभूषित करना गौरवास्पद समझते थे। इन्होंने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार सम्पन्न किया। सप्तमशतक में आचार्य कुमारिल ने मीमांसाशास्त्र की भूयसी प्रतिष्ठा की। इनके व्यापक प्रभाव से वेदाध्ययन की ओर पण्डितों की प्रवृत्ति पुनः जाग्रत हुई। बौद्धकाल में वेदों की ओर जनता की दृष्टि कम थी, परन्तु कुमारिल ने बौद्धों की युक्तियों का सप्रमाण खण्डन कर वेद की

प्रामाणिकता सिद्ध कर दी। हमारा अनुमान है कि कुमारिल—शंकर के समय में वेदों के अर्थ समझने और समझाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से जागरूक हुई। वैदिक भाष्यकारों में प्राचीनतम भाष्यकार स्कन्दस्वामी के आविर्भाव का यही युग है। यहाँ संहिताक्रम से भाष्यकारों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है।

तैत्तिरीय संहिता—भट्ट भास्कर

भास्कर मिश्र के समय का निर्धारण करना वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के लिए नितान्त आवश्यक है। सायणाचार्य के द्वारा निर्दिष्ट होने से इनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी से पहले ही होना निश्चित है। वेदाचार्य (अपरनाम लक्ष्मण; समय वि० सं० १३००) ने अपने 'सुदर्शन मीमांसा' नामक ग्रन्थ में भट्ट-भास्कर मिश्र का ही नामोल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत इनके वेदभाष्य, जिसका नाम 'ज्ञानयज्ञ' है, से भी अपना परिचय दिखलाया है[1]। देवराजयज्वा के द्वारा इनके उल्लेख किए जाने की घटना का संकेत हम पहले कर आए हैं। प्रसिद्ध वैदिक हरदत्त (वि० सं० १२वीं शताब्दी) ने एकाग्नि काण्ड के अपने भाष्य की रचना में भास्कर कृत भाष्य की विशेष सहायता ली है। इन सब प्रमाणों के आधार पर भास्कर मिश्र का समय विक्रम की १२वीं शताब्दी से पूर्व का ठहरता है। अतः इन्हें ११वीं सदी में मानना अयुक्तियुक्त न होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि भास्कर के द्वारा अपने भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार, जैसे आर्यभटीय, अमरकोश तथा काशिका आदि अत्यन्त प्राचीन हैं। इसलिए इनका उक्त काल उचित प्रतीत होता है।

काल

भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य लिखा है जिसका नाम ज्ञानयज्ञ भाष्य है। यह बड़ी विद्वत्ता से रचा गया है। इसमें प्रमाणरूप से अनेक प्राचीन वैदिक ग्रन्थ उद्धृत किए गए हैं। लुप्त वैदिक निघण्टुओं से भी अनेक प्रमाण दिए गए हैं। मन्त्रों के अर्थ प्रदर्शन में कहीं-कहीं भास्कर

---

[1] तत्र भाष्यकृता भट्टभास्करमिश्रेण ज्ञानयज्ञाख्ये भाष्ये एतत्प्रमाणव्याख्यानसमये चरणमिति देवताविशेष इतितदनुगुणमेव व्याख्यातम् ॥

—सुदर्शनमीमांसा पृ० ४

ने भिन्न-भिन्न आचार्याभिमत अर्थों को भी दिखलाया है। यज्ञपरक अर्थ का ही निर्देश इसमें नहीं है बल्कि अध्यात्म तथा अधिदैव पक्ष में भी वेदमन्त्रों का अर्थ बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उदाहरणार्थ 'हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसत्' प्रसिद्ध मंत्र के 'हंस' पद की तीन तरह से व्याख्या की गई है। अधियज्ञ पक्ष में हंस का अर्थ है रथ (हन्ति पृथिवीमिति हंसः)। अधिदैवपक्ष में हंस का अर्थ है आदित्य तथा अध्यात्मपक्ष में हंस है आत्मा। इसी तरह से अन्य मन्त्रों के भी अर्थ कई प्रकार के किए गए हैं। इस प्रकार की अन्य विशेषताओं के कारण यह वैदिक साहित्य में इतना महत्त्व रखता है।

ऋग्वेद भाष्य

ऋग्वेद संहिता का सब से पहला उपलब्ध भाष्य स्कन्दस्वामी का है। वैदिक साहित्य में यह भाष्य बड़े आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। ग्रन्थकार की प्राचीनता के साथ-साथ ग्रन्थ के अन्तरंग गुणों ने उसे इस उच्च आसन पर बैठाया है। भाष्य के अन्त में दिए गए कतिपय श्लोकों से इनके देशादि का पर्याप्त परिचय मिलता है। स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रख्यात राजधानी वलभी के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इसका पता निम्नलिखित श्लोक से, जो ऋग्वेद भाष्य के प्रथमाष्टक अध्याय के अन्त में मिलता है, चलता है—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ॥

आचार्य स्कन्दस्वामी के समय का भी निर्णय पर्याप्त रीति से किया गया है। पीछे के ग्रन्थों में इनके नामोल्लेख होने से हमें इनके आविर्भाव

काल

काल का पता चलता है, परन्तु शतपथ ब्राह्मण के विख्यात भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु होने से इनका समय बहुत कुछ निश्चित रूप से जाना जा सकता है। शतपथ भाष्य के आरम्भ में हरिस्वामी ने अपना परिचय दिया है और स्कन्दस्वामी को अपना गुरु बतलाया है—

नागस्वामी तत्र.... श्रीगुहस्वामीनन्दनः ।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान् ।

उद्गीथ के नाम का उल्लेख सायण तथा आत्मानन्द ने अपने भाष्य में किया है। इनका भाष्य स्कन्दस्वामी के भाष्य की शैली पर जान पड़ता है। इसका भी प्रभाव सायण के भाष्य पर पड़ा था। अतः इसके प्रकाशन से एक नवीन भाष्य की ही प्राप्ति न होगी, प्रत्युत सायण भाष्य के पाठ के संशोधन में भी इससे पर्याप्त सहायता की आशा की जाती है। आचार्य उद्गीथ के भाष्य के लाहौर से प्रकाशित होने की विज्ञप्ति निकली है।

(४) माधवभट्ट

ऋग्वेद के माधव नामक चार भाष्यकारों का अब तक पता चला है। इनमें तो एक सामवेद संहिता के भाष्यकार हैं। तीन माधव नामधारी भाष्यकारों का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। इनमें से एक तो हमारे चरितनायक सायण माधव ही हैं। यद्यपि सायण ने ऋक्संहिता पर भाष्य लिखा तथापि माधव के द्वारा इस कार्य में पर्याप्त सहायता दिये जाने के कारण माधव भी भाष्यकार के रूप में किन्हीं स्थान में गृहीत किये गये हैं। अतएव एक माधव तो सायणाचार्य ही हुये। दूसरे माधव वेङ्कटमाधव हैं। जिनका निर्देश प्राचीन भाष्यों में मिलता है। एक अन्य माधव भी हैं जिनकी प्रथम अष्टक की टीका अभी हाल में मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बड़ी ही सारगर्भित है। अल्पाक्षर होने पर भी मन्त्रों के अर्थ समझने में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ विद्वान् इस माधवभट्ट और वेङ्कटमाधव को एक ही व्यक्ति मानते हैं परन्तु दोनों व्यक्तियों के लिखे गये भाष्यों की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि माधवभट्ट वेङ्कटमाधव से नितान्त भिन्न एवं उनसे प्राचीनतर हैं। इस सिद्धान्त पर पहुँचने के साधक अनेक प्रमाण हैं। पहली बात यह है कि सायण ने माधवभट्ट के नाम से जिस अर्थ का उल्लेख किया है वह इस नयी टीका में बिल्कुल उपलब्ध होता है। जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत दिनों से लुप्तप्राय-सा हो गया था। इसीलिये देवराजयज्वा ने अपनी निघण्टु टीका में वेङ्कटमाधव और माधवभट्ट के व्यक्तित्व को सम्मिलित कर दिया है। वेङ्कटमाधव के नाम से जितने उद्धरण उन्होंने दिये हैं वे सब के सब इस टीका में उपलब्ध हो सकते हैं यदि वह पूरी उपलब्ध हो जाय। हमारे मित्र पं० सीताराम जोशी ने खोज निकाला है[1] कि देवराज के लगभग आधे निर्देश

[1] देखिए, काशी की ओरियन्टल कान्फ्रेन्स की लेखमाला।

प्रकाशित टीका में ही उपलब्ध हो जाते हैं। यह माधवभट्ट ऋग्वेद में महान् विद्वान् रहे होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस टीका के आरम्भ करने से पहले उन्होंने ग्यारह अनुक्रमणियाँ लिखी थीं जिनमें से हर एक कोष रूप में रखकर ऋग्वेद के शब्दार्थ को प्रकट करने में समर्थ हैं। इनमें से उपलब्ध दो अनुक्रमणी छप चुकी हैं। वे हैं नामानुक्रमणी और आख्यातानुक्रमणी। इनके पढ़ने से यह अनुमान सहज में हो सकता है कि वे ऋक् संहिता के नाम और क्रियाओं की एकत्र संग्रह हैं, जो समानार्थक हैं। किन्तु इनसे अधिक महत्त्व की अनुक्रमणियां जैसे निवचनानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी और सब से अधिक महत्त्व की स्वरानुक्रमणी, उपलब्ध नहीं हैं, यह बहुत ही खेद का विषय है। स्वरानुक्रमणी को सब से अधिक महत्त्व की हम इसलिए मानते हैं कि इसमें जो स्वर का ज्ञान है वह उपलब्ध टीकाओं में किसी में भी पाया नहीं जाता। इस वैशिष्ट्य का निर्देश विद्वान् बहुत पहिले देवराजयज्वा के निघण्टु निर्वचन में पढ़ चुके थे। मालूम पड़ता है कि देवराजयज्वा इस माधव को स्वयं यथार्थ रूप से नहीं जानते थे। अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में उन्होंने वेंकटमाधव का निर्देश किया है और बहुत संभव है कि उन्होंने उन्हीं को माधव के निर्देश से सम्बद्ध किया हो। आगे चलकर यह पता लग चुका है कि उन माधव के निर्देशों में से एक भी निर्देश वेंकटमाधव के ग्रन्थ में नहीं मिलता। और कतिपय सायण माधव के बृहद्भाष्य में मिलते हैं जो उनके निज के नहीं हैं। देवराजयज्वा के सभी निर्देश इस नये माधव के ग्रन्थ में मिल सकते हैं यदि वह समग्र उपलब्ध हो जाय। जितना उपलब्ध हुआ है, उसमें आधे से अधिक निर्देश पाये गये हैं और वे अक्षरशः मिलते हैं। सिवा इसके अनुक्रमणी का निर्देश कर देवराजयज्वा ने जो उद्धरण दिये हैं वे भी उपलब्ध इस माधव के दोनों अनुक्रमणियों में पाये गये हैं अतएव वह माधव वेंकटमाधव न होकर इस नये ग्रन्थ के लेखक दूसरे या तीसरे माधव हैं और बहुत प्राचीन होने के कारण देवराजयज्वा ने भी उनको वेंकटमाधव मानने की भूल की है।

टीका की विशेषता—इस माधव की टीका वास्तव में भाष्य ही है। इसका अनुकरण सायणमाधव, वेंकटमाधव इन दोनों ने मुक्तहस्त से किया है। स्कन्दस्वामी की टीका में भी इसकी अनुक्रमणियों का अनुकरण पाया जाता है। दुःख की बात यह है कि बहुत ही थोड़ा भाग केवल एक ही अष्टक-ऋक्

संहिता पर यह भाष्य उपलब्ध है। तथापि इतना ही भाग ऊपर कहे हुए विधानों को पुष्ट करने में पर्याप्त है। देवराजयज्वा ने माधव का निर्देश कर जो स्वर की बातें लिखी हैं उनमें साठ प्रतिशत के ऊपर इस अल्पकाय में ही पाये जाते हैं। देवराजयज्वा ने अपने निर्देशों को सारे संहिता भाष्य से लिया है। मालूम पड़ता है कि पूरा भाष्य उनके पास था। परन्तु इस माधव का ठीक परिचय देवराज को न था क्योंकि अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में वेंकटमाधव और माधवदेव का ही निर्देश किया है जिनके ग्रन्थों में ये बातें नहीं मिलतीं। यह माधव ही माधवभट्ट कहाने योग्य हैं क्योंकि इनका ऋग्वेद का अर्थज्ञान बहुत ही उच्च प्रति का पाया जाता है। सायणाचार्य की तरह अनेक अर्थ देने की इनकी कोशिश बिल्कुल नहीं है। सन्दिग्ध स्थलों को स्वरभेद से, प्रातिशाख्य भेद से विशद करने की इनकी शैली अनूठी है। यद्यपि भाष्य लघुकाय है तथापि निःसंन्दिग्ध अर्थ दिये हुए हैं। जिनका अनुकरण स्कन्दस्वामी, वेंकट माधव और सायणाचार्य बराबर करते हैं। विद्वानों के मन में सायणाचार्य चतुर्दश शतक खिष्टाब्द, वेंकटमाधव दशमशतक और स्कन्दस्वामी सप्तमशतक के माने गये हैं तब ये माधव भट्ट इन सबों से सुतरी प्राचीन हैं। और इनके उपलब्ध ग्रन्थों से और निर्देशों से इनका सम्प्रदाय कोई अन्य होगा ऐसा अनुमान होता है। यह कौन थे कहना कठिन है। निर्वचनानुक्रमणी के उद्धरणों से मालूम पड़ता है कि ये यास्काचार्य से भी भिन्न कोई सम्प्रदाय के अनुयायी रहे होंगे। हमें बहुत खेद है कि ऐसे महत्त्व के ऋक्संहिता के टीका ग्रन्थ पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं हैं। सम्प्रति जितना भाग उपलब्ध है वह प्रचीन वैदिक विद्वान् प्रथम श्रेणी के अर्थज्ञ भी होते थे इसे सिद्ध करने में पर्याप्त है।

वेंकटमाधव

माधव ने समग्र ऋक्संहिता पर अपना भाष्य लिखा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि माधव ने ऋग्वेद पर दो भाष्य लिखे हैं। पहले भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में माधव ने अपना परिचय लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि इनके पितामह का नाम माधव, पिता का वेंकटार्य, मातामह का भवगोल और माता का सुन्दरी था। इनका मातृगोत्र वसिष्ठ तथा अपना गोत्र कौशिक था। इनका एक अनुज भी था जिसका नाम था संकर्षण।

इनके वेंकट तथा गोविन्द नामक दो पुत्र थे। ये दक्षिणापथ के चोल देश (अन्ध्र प्रान्त) के रहनेवाले थे[1]।

काल—इनके काल निर्णय के लिए अनेक साधन मिलते हैं जिनकी सहायता से इनका समय विशेष रूप से निश्चित किया जा सकता है।

(१) सायण ने ऋ० १०।८६।१ के भाष्य में माधव भट्ट की सम्मति का उल्लेख किया है जो वेंकटमाधव के भाष्य में मिलता है। अतः माधव सायण के पहले विद्यमान थे।

(२) निघण्टु पर भाष्य लिखनेवाले देवराजयज्वा (सं० १३७० के आस पास) ने अपने भाष्योपोद्घात में वेंकटाचार्य तनय माधव का उल्लेख इस प्रकार किया है—'श्री वेंकटाचार्यतनयस्य माधवस्यभाष्यकृतौ नामानुक्रमण्याः पर्यालोचनात् . ...क्रियते ।' इससे वेंकट के पुत्र माधव का देवराज का पूर्ववर्ती होना स्वयं सिद्ध है।

(३) कोषकार केशव स्वामी ने (१३०० वि० सं० से पूर्व) अपने प्रसिद्ध कोष नानार्थार्णवसंक्षेप में माधवाचार्य सूरि के नाम से माधव का ही उल्लेख किया है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अघेत्यृचि भाषते॥

इसका आशय यह है कि उभयलिंग में गोशब्द का अर्थ 'घोड़ा' होता है। स्कन्दस्वामी ने ऋचाओं की व्याख्या में इसी अर्थ को कहा है तथा माधवाचार्य सूरि ने भी 'को अघ' (ऋ० १।८४।१६) इस ऋचा की व्याख्या में गो शब्द का अर्थ अश्व किया है। वेंकटमाधव के उक्त ऋचा के भाष्य में यही अर्थ मिलता है। अतः इस निर्देश से माधव का समय वि० सं० १३०० से पूर्व का ठहरता है।

इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि माधव का समय १३०० विक्रमी से बहुत पहले का है तथा इनकी प्रामाणिकता स्कन्दस्वामी के समान ही मानी जाती थी। अतः इनका समय १२०० विक्रम संवत् के आसपास ज्ञात होता है। पं० साम्बशिव शास्त्री ने वेंकटमाधव का समय १०५०—११५०

---

[1] ऋग्भाष्य, अनन्तशयन ग्रन्थावली भूमिका पृ० ७,८।

ई० के भीतर माना है।[1]

माधव का भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। उन्होंने 'वर्जयन् शब्दविस्तारं शब्दैः कतिपयैरिति' लिखकर इस बात को स्वयं स्वीकार किया है। इसमें केवल मंत्रों के पदों की ही व्याख्या है। संक्षिप्त बनाने की भावना से प्रेरित होकर माधव ने मूल के पदों का भी निवेश अपने भाष्यों में बहुत कम किया है। केवल पर्यायवाची पदों को देकर ही माधव ने मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस भाष्य के पढ़ने से मन्त्र का अर्थ बड़ी सुगमता से समझ में आ जाता है। स्कन्दस्वामी के भाष्य की अपेक्षा भी यह संक्षिप्त है, सायण के भाष्य से तो कहना ही क्या ? व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों का निर्देश है ही नहीं। हाँ, प्रायः सर्वत्र ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण सुन्दर रीति से दिए गए हैं जिससे माधव की ब्राह्मण ग्रन्थों में विशेष व्युत्पत्ति प्रतीत होती है। माधव ने स्वयं ही ब्राह्मणों को वेदों के गूढ अर्थों के समझने में नितान्त उपयोगी बतलाया है। उनका कहना है कि जिस ने केवल व्याकरण तथा निरुक्त का अनुशीलन किया है, वह संहिता का केवल चतुर्थांश ही जानता है परन्तु जिसने ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ का विवेचन श्रमपूर्वक किया है, शब्द रीति के जाननेवाले वे ही विद्वान्, जिसे माधव ने 'वृद्ध' कहा है, वेद के यथार्थ समस्त अर्थ को कह सकते हैं —

> संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
> निरुक्तव्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमः॥
> अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
> शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि॥

इस प्रकार ब्राह्मणों के अनुकूल वेदार्थ प्रतिपादन का यह भाष्य उज्ज्वल उदाहरण है। संक्षिप्त होने से मन्त्र के अर्थ के समझने में इससे विशेष सहायता मिलती है। इस भाष्य के प्रकाशक हैं मोतीलाल बनारसीदास लाहौर तथा सम्पादक हैं डा० लक्ष्मणस्वरूप।

धानुष्कयज्वा

धानुष्कयज्वा नाम के किसी तीनों वेदों के भाष्यकार का नाम वेदाचार्य की सुदर्शनमीमांसा में कई बार आया है। इन स्थानों पर वे 'त्रिवेदी-

---

[1] ऋग्वेद का स्कन्दस्वामीकृत भाष्यभूमिका पृ० ७

भाष्यकार' तथा 'त्रयीनिष्ठवृद्ध' कहे गए हैं। अतः इनके वेदत्रयी के प्रामाणिक भाष्यकार होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। ये एक वैष्णव आचार्य थे। इन उल्लेखों के अतिरिक्त न तो इनके विषय में कुछ पता ही है और न इनके वेदभाष्य के विषय में। इनका समय विक्रम संवत् १३०० से पूर्व होना चाहिए।

आनन्द तीर्थ

आनन्द तीर्थ का ही दूसरा नाम 'मध्व' है, जिन्होंने द्वैतवादी सुप्रसिद्ध 'माध्व' वैष्णव सम्प्रदाय को चलाया। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों की व्याख्यावाला वेदभाष्य भी है। यह भाष्य छन्दोबद्ध है तथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ४० सूक्तों पर ही है। इसमें राघवेन्द्र यति का यह कथन पर्याप्त रूप से प्रामाणिक है—'ऋक्शाखागतैकोत्तर-सहस्रसूक्तमध्ये कानिचित् चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादैः...व्याख्यातानि'

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने विषय में कहा है कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' अर्थात् समस्त वेद मेरा ही प्रतिपादन करते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आनन्दतीर्थ का वेदों में भगवान् नारायण का सर्वत्र प्रतिपादन देखना नितान्त युक्तियुक्त है। अपने भाष्य के आरम्भ में वे स्वयं कहते हैं—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च॥

अर्थात् नारायण पूर्ण हैं। अतः पुरुष सूक्त में 'सहस्रशीर्षापुरुषः' आदि ऋचाओं में वे ही 'पुरुष' कहे गये हैं। समस्त वेद तथा शास्त्र का अभिप्राय उसी पूर्ण पुरुष के प्रतिपादन से है। इसी दृष्टि को अपने सामने रखकर इस वैष्णवाचार्य ने वैदिक ऋचाओं का अर्थ किया है। जयतीर्थ के कथनानुसार इस मध्वभाष्य में आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ के अतिरिक्त आध्यात्मिक अर्थ का भी सुन्दर प्रदर्शन किया गया है।[1] इस प्रकार ऋग्वेद का यह 'माध्व' भाष्य कई अंशों में विलक्षणता से भरा पड़ा है। द्वैतवादियों

---

१. ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति। एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः। अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः। अन्योऽध्यात्मरूपः। तत्त्रितयपरं चेदं भाष्यम्।

में इसकी प्रसिद्धि कम नहीं है। इस मध्वभाष्य के ऊपर सुप्रसिद्ध माध्व आचार्य जयतीर्थ ने ग्रन्थ रचना के तीस साल के भीतर ही अपनी टीका लिखी। इस टीका पर भी नरसिंह ने (१७१८ सं० वि०) अपनी विवृति तथा नारायण ने 'भावरत्नप्रकाशिका' नामक दूसरी विवृति लिखी। इनके लेखक वैदिक साहित्य के अच्छे विद्वान् प्रतीत होते हैं। इन टीका तथा विवृतियों से माध्वभाष्य के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। आनन्दतीर्थ का आविर्भाव विक्रम की तेरहवीं सदी के मध्य से लेकर १४वीं के मध्य तक है। सुनते हैं कि वे ८० वर्ष तक जीवित रहे (१२५५-१३३५ वि० सं०)[1]।

आत्मानन्द

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अन्तर्गत 'अस्य वामीय' सूक्त पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य में उद्धृत ग्रन्थकारों में स्कन्द, भास्कर आदि का नाम मिलता है, परन्तु सायण का नाम नहीं मिलता। इससे ये सायण से पूर्व के भाष्यकार प्रतीत होते हैं। उद्धृत लेखकों में मिताक्षरा के कर्ता विज्ञानेश्वर (ई० १०७०-११००) तथा स्मृतिचन्द्रिका के रचयिता देवणभट्ट (१३वीं शती ई०) के नाम होने से हम कह सकते हैं कि इनका आविर्भाव काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी है।

यह भाष्य भी अपनी विशेषता रखता है। आत्मानन्द ने भाष्य के अन्त में लिखा है कि स्कन्दस्वामी आदि का भाष्य यज्ञपरक है; निरुक्त अधिदेव परक है, परन्तु यह भाष्य अध्यात्म विषयक है। तिस पर भी मूलरहित नहीं है; इसका मूल विष्णुधर्मोत्तर है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्न विषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।

भाष्य के निरीक्षण करने से पता चलता है कि आत्मानन्द अपने विषय के एक अच्छे जानकार थे। इसमें प्रत्येक मंत्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य कर रहा है। यह इस भाष्य की बड़ी विशेषता है।

---

[1] भण्डारकर : शैव वैष्णव तथा अन्यमत

साम भाष्य

साम संहिता पर सायण भाष्य लिखने से पहले दो भाष्यों का पता चलता है। एक अन्य ग्रन्थकार ने संहिता के ऊपर तो अपना भाष्य नहीं लिखा, लेकिन सामवेदियों के नित्य नैमित्तिक अनुष्ठानों में आनेवाले मन्त्रों की व्याख्या लिखी। अतः तीन ही ग्रन्थकारों का अब तक पता चला है जिन लोगों ने साम की पूरी संहिता पर अथवा साम के अनुष्ठानोपयोगी मंत्रों पर अपनी व्याख्याएँ लिखीं।

(१) माधव

माधव सामसंहिता के प्रथम भाष्यकार प्रतीत होते हैं। साम के दोनों खण्डों—छन्द आर्चिक तथा उत्तर आर्चिक—पर इन्होंने अपना भाष्य लिखा। इसका नाम 'विवरण' है। छन्द आर्चिक के भाष्य को 'छन्दसिका विवरण' तथा उत्तरार्चिक के भाष्य को 'उत्तर विवरण' नाम दिया गया है। अभी तक यह भाष्य अमुद्रितावस्था में ही पड़ा है, परन्तु इसके पता लगाने वाले सत्यव्रत सामश्रमी ने सबसे पहले अपने सायण भाष्य के संस्करण में इस भाष्य के कुछ अंश टिप्पणी के रूप में दिये हैं।

माधव के पिता का नाम 'नारायण' था जिसे कुछ विद्वानों ने स्कन्द स्वामी के ऋग्भाष्य के पूरक तथा सहायक 'नारायण' से अभिन्न ही माना है, परन्तु अभी इन दोनों की अभिन्नता मानने के लिए प्रबल प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं। तथापि इनके आविर्भाव-काल का निश्चित अनुमान किया जा सकता है। देवराज-यज्वा (१२ शतक) ने अपने निघण्टु भाष्य की अवतरणिका में किसी माधव का निर्देश किया है। सम्भवतः यह माधव सामभाष्य रचयिता माधव ही हैं। इतना ही नहीं, महाकवि बाणभट्ट विरचित कादम्बरी का

काल

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥

मंगल पद्य माधव के साम विवरण में भी मंगल के रूप में मिलता है। इस पद्य का त्रयीमयाय शब्द यही सूचित करता है कि इस का किसी वैदिक ग्रन्थ के मंगलाचरण में होना नितान्त उपयुक्त है। अतः माधव ने सर्व-प्रथम इसे अपने सामभाष्य के मंगल के लिए बनाया होगा, यही अनुमा. सिद्ध

है। भाष्यकार माधव बाणभट्ट के कोई पूज्य आचार्य या गुरु हो सकते हैं। बाणभट्ट के पूर्वज वेद के पारंगत पण्डित थे, बाण को भी, जैसा कि हर्ष-चरित से पता चलता है, वेद-वेदाङ्ग की शिक्षा विद्वान् गुरु से मिली थी। यह घटना पूर्व अनुमान की पुष्टि मात्र करता है। यदि वह ठीक हो तो कहना ही पड़ेगा कि बाणभट्ट के पूर्ववर्ती माधव का समय वि० सं० ६५७ (६०० ई०)से इधर का नहीं हो सकता। अतः माधव को विक्रम की सातवीं शताब्दी में मानना ठीक जान पड़ता है।

माधव का भाष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये साम सम्प्रदायों के विशेष रूप से जाननेवाले थे। इसका पता इस बात से चलता है, जैसा सत्यव्रत सामश्रमी ने दिखलाया है कि अनेक स्थलों पर सायण ने आर्च पाठ (ऋग्वेद में प्रदत्त पाठ) की ही व्याख्या की है, परन्तु इन स्थलों पर माधव ने साम पाठ (सामवेद में स्वीकृत पाठ, जो आर्च पाठ से भिन्न है) को दिया है। अन्य विशेषताओं का पता माधव भाष्य के मुद्रित हो जाने पर चलेगा। इस भाष्य का प्रकाशन वेदाभ्यासियों के निःसंदेह बड़े काम का होगा।

भरतस्वामी

भरतस्वामी ने सामसंहिता पर भाष्य लिखा था यह भी अभी अप्रकाशित ही है। इसके निम्नलिखित पद्य से पता चलता है कि भरतस्वामी काश्यपगोत्र के ब्राह्मण थे; इनके पिता का नाम नारायण तथा माता का यज्ञदा था, इन्होंने सामवेद की समस्त ऋचाओं की व्याख्या लिखी है—

इत्थं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यत् साम्नामृचोऽखिलाः॥

काल—भरतस्वामी ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय यों दिया है —

नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्यकरोदृचम्॥
होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरंगे वसता मया॥

इन पद्यों से पता चलता है कि नारायण के पुत्र काश्यप भरतस्वामी ने श्रीरंगम् जैसे प्रसिद्ध वैष्णवतीर्थ में रहते हुए होयसलाधीश्वर रामनाथ के

राज्यकाल में इस भाष्य को बनाया। अपने समकालीन राजा के नामोल्लेख से भरतस्वामी के समय का पूरा पता हमें चलता है। बर्नल साहेब ने रामनाथ का जो समय दिया है[1] (१२७२-१३१०) वह आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणाओं के आधार पर गलत ठहरता है।[2]

होयसलवंश के विख्यातनामा वीर रामनाथ अपने समय के एक प्रतापी नरेश थे। इनके पिता सोमेश्वर इस वंश के प्रधान उन्नायकों में से माने जाते हैं। इन्होंने समस्त चोलराजाओं के प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। रामनाथ सोमेश्वर के द्वितीय पुत्र थे जो देवल महादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सोमेश्वर ने पैतृक सिंहासन अपने प्रथम पुत्र, बिज्जल रानी के गर्भ से उत्पन्न, नरसिंह तृतीय को दिया था। दक्षिण प्रदेशों पर रामनाथ को अपने राज्यकाल में ही शासक बनाया था। पिता की मृत्यु के अनन्तर रामनाथ इस प्रान्त के शासक बने ही रहे। श्रीरंगम् इनके ही राज्य में पड़ता था। अतः भरतस्वामी का उपर्युक्त उल्लेख बिलकुल ठीक है। ये अपने ज्येष्ठ भ्राता से अलग ही स्वतंत्र रूप से दक्षिण प्रदेश पर शासन करते थे। महीसूर के दक्षिण भाग में इन्होंने अपने भाई से लड़ाई भी लड़ी थी। इनके पिता के द्वारा विजित चोल प्रदेश पर इन्हीं का शासन होता था। इनके जेठे भाई होयसल नरसिंह तृतीय की मृत्यु ई० सन् १२९२ में हुई जिसके कुछ ही साल बाद (लगभग १२९४ या १८९५ में) ये भी यहाँ से चल बसे। इनके पुत्र विश्वनाथ इनके स्थान पर दक्षिण देश के शासक हुए; परन्तु इनकी मृत्यु केवल तीन वर्ष के भीतर हो गई। इसके बाद इनका भी प्रदेश नरसिंह तृतीय के सुपुत्र वीर बल्लाल तृतीय के पैतृकराज्य में मिल गया।

इस विवरण के आधार पर रामनाथ के शासन का अन्त वि० सं० १३५२ (१२९५ ई०) में हुआ। इससे भरतस्वामी के भाष्य का रचनाकाल सम्भवतः वि० सं० १३४५ के आसपास होगा। अतः भरतस्वामी विक्रम की चौदहवीं सदी के मध्यकाल में अवश्य विद्यमान थे। ये दक्षिण भारत के

---

[1] बर्नल कृत तंजोर का सूचीपत्र, प्रथमभाग

[2] रामनाथ के विशेष विवरण के लिये देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग ३, पृ० ४८४-४८६।

रहनेवाले थे। भरतस्वामी के भाष्य तथा सायणभाष्य में लगभग साठ सत्तर वर्षों का अन्तर होगा।

भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है। पूर्ववर्ती भाष्यकार माधव से इसमें पर्याप्त सहायता ली गई प्रतीत होती है। भरतस्वामी ने सामब्राह्मणों पर भी भाष्य लिखा है। अतः पूरी संहिता पर इनका भाष्य होना चाहिये।

गुणविष्णु

गुणविष्णु के साममन्त्र व्याख्यान का नाम मिथिला तथा बंगाल में खूब है। वहाँ के साममवेदियों के नित्य-नैमित्तिक विधिओं के उपयोगी साममंत्रों की व्याख्या कर इन्होंने बड़ा भारी काम किया है। ये मिथिला या बंगाल के किसी भाग के रहनेवाले थे। इनके छान्दोग्य मन्त्रभाष्य का एक सुन्दर संस्करण अभी हाल ही में कलकत्ता की संस्कृत परिषद् ने निकाला है। इसकी प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने गुणविष्णु के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवेचन विद्वत्ता के साथ किया है।

यह छान्दोग्य मंत्रभाष्य सामवेद की कौथुम शाखा पर है (हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना)। इस भाष्य तथा सायणकृत मन्त्रब्राह्मण के भाष्य की तुलना करने से जान पड़ता है कि सायण ने गुणविष्णु के भाष्य को आधार मानकर अपना भाष्य लिखा है। हलायुध के द्वारा भी इस ग्रन्थ को उपयोग में लाने के प्रमाण मिलते हैं। इससे सम्भव है कि गुणविष्णु बल्लालसेन या उनके प्रसिद्ध पुत्र लक्ष्मणसेन के राज्यकाल में विद्यमान थे। अतः इनका समय विक्रम की १२वीं सदी का अन्त तथा १३वीं सदी का आरम्भ माना जा सकता है।

गुणविष्णु का छान्दोग्य मंत्रभाष्य ग्रन्थ नितान्त विख्यात है तथा प्रकाशित भी है। इनके अन्य दो ग्रन्थों का भी पता चलता है—पहला मंत्र-ब्राह्मणभाष्य तथा दूसरा पारस्करगृह्यभाष्य। इन ग्रन्थों की रचना से ये अपने समय के एक प्रख्यात वैदिक प्रतीत होते हैं।

वर्तमान युग

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी संहिताओं पर भाष्य लिखे हैं। इनका भाष्य सम्पूर्ण यजुर्वेद पर ही मिलता है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के

१६१ वें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही इनका भाष्य उपलब्ध होता है। ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ सम्वत् १९३४ मार्गशीर्ष शुक्ल ६ को मङ्गलवार के दिन किया गया। इसके कुछ समय के अनन्तर ही सम्वत् १९३४ के पौष शुक्ल के १४ गुरुवार को यजुर्वेद भाष्य का आरम्भ किया गया। इस प्रकार ऋग्वेद भाष्य के आरम्भ से एक मास पीछे स्वामी जी ने यजुर्वेद भाष्य का आरम्भ किया। इस भाष्य की समाप्ति संवत् १९३९ मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपत् को हुई। इसी बीच में इन्होंने अपनी शैली के निदर्शनार्थ १९३५ सम्वत् में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखा। स्वामी जी ने भाष्य संस्कृत में लिखा, उसका हिन्दी भाषान्तर उनके सहयोगी पण्डितों ने किया।

अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन्होंने वेद विषयक अपनी मान्यताओं का वर्णन किया है। स्वामी जी की सम्मति में वेद अनादि तथा ईश्वर प्रणीत हैं। वेदों में एकेश्वरवाद ही है। वेद सब विद्याओं के निधान हैं, विज्ञान के सहारे आज कल जितनी विद्यायें प्रचलित तथा आगे जितनी आविष्कृत की जा सकती हैं उन सबों का परिचय तथा सूचना वेद के मन्त्रों में उपलब्ध होती है। वेदमन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय ईश्वर ही है। इन्द्र, अग्नि, रुद्र, वरुण सविता, पूषा, आदि जिन नाना देवताओं की स्तुति वेदों में उपलब्ध होती है वह सब ईश्वर की ही स्तुति है। इन्द्रादि देवताओं से अभिप्राय एक ईश्वर से ही है। इसलिये उनका दृढ़ मत है कि याज्ञिकों की तैंतीस देवताओं की स्तुति का तथा पाश्चात्यों की जड़ पूजा का वेद में विधान नहीं है। इस प्रकार वे वेद की आध्यात्मिक व्याख्या करने के पक्षपाती हैं।

स्वामी दयानन्द जी के भाष्य में समस्त वैदिक शब्द यौगिक माने गये हैं। शब्दों का सम्बन्ध धातु से दिखला कर उन्हें यौगिक अर्थ में ग्रहण करने का उद्योग किया गया है। स्वामी जी का कहना है कि हमें प्रकृति तथा प्रत्यय से लभ्य अर्थ से ही सन्तोष नहीं करना चाहिये अपितु प्रकरण तथा विशेषणों का भी ध्यान रखना चाहिए। इसी शैली को लक्ष्य कर स्वामी जी ने अपने भाष्य का निर्माण किया है।

याज्ञिक विचारों से मन्त्रों के लिये विनियोग का भी प्रधान महत्त्व है परन्तु स्वामी जी के भाष्य में एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है जिसका विनियोग-परक अर्थ किया गया हो। इनकी दृष्टि में जमदग्नि, कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं, बल्कि इन शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ है। स्वामी

जी ने ऐतिहासिक नामों को नित्य प्राकृतिक घटनाओं का रूप देकर वेदों को सार्वकालिक विचारों का मूलस्रोत माना है। स्वामी जी ने प्रमाण के लिये शतपथ ब्राह्मण के उन अँशों को ग्रहण किया है, जिनमें शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। जैसे—

(१) "प्राणो वै वसिष्ठ" ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठो यत् वस्तृतमो वसति तेन एव वसिष्ठः। शतपथ ८।१।१।६

(२) "मनो वै भरद्वाज ऋषिः" अन्नं वाजः यो वै मनो बिभर्ति सोन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः। शत० ८।१।१।६

देवता वाद—दयानन्द भाष्य को देखने से हमारे देवता विषयक विचार में भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया है। स्वामी जी के पूर्व सायणादि भाष्यकार अग्नि, वायु आदि देवता वाचक शब्दों को अचिन्त्य, अज्ञेय, चेतन देवों के वाचक मानते हैं जो कि अपने-अपने मण्डल के अधिष्ठाता भी हैं। ऐसा ही अभिमानी देवता विषयक विचार वेदान्तियों का भी है; परन्तु स्वामी जी ने यौगिक रीति से देवताओं के अर्थ उनके गुण समूह की दृष्टि से किये हैं। जैसे अग्नि देवता से हमें उन पदार्थों को लेना चाहिये जिनमें अग्रणीत्व, प्रकाश आदि अग्निघटक गुण हों। इस दृष्टि से भौतिक अग्नि भी अग्नि है। तेजस्वी परमात्मा भी अग्नि हैं। राष्ट्र के आगे-आगे चलनेवाला ज्ञान से प्रकाशमान ब्रह्मकुमार पुरोहित भी अग्नि है। यदि कहीं अग्नि का वर्णन चेतन विग्रहवती देवता के रूप में हो तो वहाँ पर हम उसका अर्थ चेतन शरीरधारी ब्राह्मण ले सकते हैं। परन्तु दयानन्द जी की दृष्टि में यह स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है कि कोई मण्डल का अधिष्ठाता अदृश्य अग्नि देव है। संक्षेप में दयानन्द-भाष्य की यही शैली है।[1]

पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्या

पाश्चात्य विद्वानों का वेदानुशीलन देखकर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। भारत से हजारों कोस दूर पर सात समुन्दर टापू पार रहनेवाले इन पश्चिमी विद्वानों ने शुद्ध साहित्यिक भाव से प्रेरित होकर जिस विद्याप्रेम

---

[1] विशेष जानकारी के लिये देखिए नारायण अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ६७—१२४।

का परिचय प्रदान किया है, वह वास्तव में नितान्त श्लाघनीय है। भारत न उनका देश, न वेद उनके धर्मग्रन्थ, फिर भी इनकी वेदाध्ययन की ओर स्वाभाविक लगन देखकर उसकी उपेक्षा करनेवाले हिन्दू नामधारी हमारे संस्कृतज्ञों के प्रति हमारे दिल में जलन होने लगती है। पाश्चात्यों का यह वेदानुराग हमारे आश्चर्य का ही नहीं, प्रत्युत हमारे अनुकरण का विषय है। आज से सैकड़ों वर्ष पहले पाश्चात्य विपश्चितों के हृदय में भारतीयों के धर्म तथा ज्ञान भण्डार के जानने की कामना जाग पड़ी थी। १८ वीं शताब्दी के मध्य काल में विख्यात फ्रेञ्च मनीषी वाल्टेअर ने यजुर्वेद के किसी फ्रान्सीसी अनुवाद पर रीझकर भारतीयों की विद्वत्ता तथा ज्ञान-गरिमा की प्रचुर श्लाघा की थी, परन्तु पीछे पता चला कि यह अनुवाद मूल पुस्तक का भाषान्तर न होकर किसी ईसाई पादरी साहब की जालसाजी का उत्कृष्ट नमूना था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ के कोलब्रूक साहब ने वेद के विस्तार, महत्त्व, विषय का पर्याप्त परिचय दिया जो पाश्चात्यों के लिए वेद से प्रथम परिचय कहा जा सकता है। ये कोलब्रूक साहब अंग्रेज कर्मचारी थे जिन्होंने कलकत्ते में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया और १८०५ ई० की 'एशिएटिक रिसर्चेज' नामक पत्रिका में वेद विषयक विवरणात्मक लेख लिखा। अब पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि काव्य-नाटक की ओर से मुँड़कर वेदों की ओर झुकी और वे अब लगे वैदिक ग्रन्थों को खोजकर छापने तथा व्याख्या सहित भाषान्तरित करने।

१८३८ ई० में जर्मन विद्वान् एफ० रोज़न के द्वारा सम्पादित ऋग्वेद का प्रथमाष्टक प्रेस से अवश्य बाहर निकला, परन्तु इसके एक साल पहले ही सम्पादक महोदय अपनी ऐहिक लीला संवरण कर चुके थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जर्मनों ने वेदों को अपने अदम्य उत्साह तथा गाढ अनुशीलन का विषय बनाया। डा० रुडाल्फ राथ, डा० वेबर तथा डा० मैक्समूलर का नाम इस विषय में बड़े आदर के साथ ग्रहण किया जा सकता है। १८४६ ई० में डा० राथ ने वेद के साहित्य विषयक जिस ग्रन्थ का निर्माण किया, वह ऐतिहासिक पद्धति के प्रथम विवेचन प्रस्तुत करने के कारण विद्वानों में नितान्त आदरणीय माना जाता है। परन्तु इससे भी महत्त्वशाली कार्य राथ ने सेन्टपीटर्स बर्ग (रूस की वर्तमान राजधानी लेनिनग्राड) से ७ जिल्दों में प्रकाशित संस्कृत जर्मन कोष के निर्माण से सम्पादित किया। यह कोष जर्मन अध्य-

वसाय, विद्यानुशीलन तथा विचक्षणता का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें वैदिक शब्दों का अर्थ अनेक प्रमाणों के आधार पर बड़े परिश्रम से छानबीन कर प्रस्तुत गया किया है। जर्मन विद्वान् डा० वेबर ने १८५२ ई० में संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा, जिसमें उस समय तक उपलब्ध समस्त वैदिक वाङ्मय को क्रमबद्ध रूप से वर्णन करने का प्रथम प्रयास किया गया है। 'इन्दियना स्टूदियन' नामक पत्रिका में वेबर ने साहित्य, समाज, धर्म तथा तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विपुल मननीय तथा माननीय सामग्री का प्रचुर संग्रह प्राचीन भारत के अध्ययनार्थ एकत्र किया है।

इसी समय इङ्गलैण्ड में रहकर डा० मैक्समूलर ने अपने विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थों और रोचक व्याख्यानों के द्वारा भारतीय धर्म तथा संस्कृति को पश्चिम देशों में लोकप्रिय बनाया। इन्होंने बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण हृदय पाया था और इसी के कारण ये भारतीय धर्म के अन्तस्तल को परखने में कृतकार्य हुए। इन्होंने भारतीयों के दिल में ऐसा घर कर लिया है जैसा अन्य किसी पश्चिमी विद्वान् से नहीं हो सका। मोक्षमूलर भट्ट का सायण भाष्य समन्वित ऋग्वेद का संस्करण एक आदर्श अनुपम संस्करण स्वीकार किया जाता है तथा 'प्राचीन संस्कृत साहित्य' आज भी हस्तलिखित प्रतियों से संकलित वैदिक साहित्य के विषय में एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है। इन्होंने 'प्राच्य धर्ममाला' में प्राच्य देशों के मूल धार्मिक ग्रन्थों को पश्चिमी लोगों के ही लिए सुलभ नहीं बना डाला, प्रत्युत तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक धर्म आदि नवीन विषयों के ऊपर नवीन ग्रन्थों की रचना ने उन्हें अत्यधिक लोकप्रिय तथा ग्राह्य बना दिया।

वेद के मूल ग्रन्थों के विशुद्ध संस्करण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त इन विद्वानों ने ग्रन्थों के अनुवाद, व्याख्या, टीका-टिप्पणी तैयार करने में जी जान से परिश्रम किया है। इस दिशा में जर्मनों की कृतियाँ नितान्त कमनीय तथा गौरवशालिनी हैं। महत्त्वपूर्ण होने के हेतु ऋग्वेद ने विद्वानों का ध्यान अपनी व्याख्या की ओर विशेष रूपेण आकृष्ट किया है। सब से प्रथम अँग्रेज विद्वान् डा० विल्सन ने १८५० ई० में सायणभाष्य के आधार पर समग्र ऋग्वेद का अनुवाद अँग्रेजी में किया। इसके पचीस वर्ष के भीतर ही दो जर्मनों ने ऋग्वेद के दो अनुवाद भिन्न दृष्टिकोणों से तैयार किया। डा० ग्रासमान ने (१८७३ई०) न केवल ऋग्वेद कोष की रचना कर ऋग्वेदस्थ पदों का प्रामाणिक अर्थ दर्शाया

प्रत्युत १८७६-७७ ई० में दो खण्डों में ऋग्वेद का पद्यात्मक अनुवाद भी जर्मन भाषा में किया। इसी वर्ष से डा० लुडविग ने ऋग्वेद का गद्यात्मक अनुवाद लिखना शुरू किया जो बाइस वर्ष के अविरत परिश्रम से ६ जिल्दों में (१८७६-८८) समाप्त हो पाया। अनुवाद के साथ मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या इसकी एक महती विशेषता है। ऐतिहासिक पद्धति को विशेष महत्त्व देने पर भी प्राचीन परम्परा भी इस अनुवाद में अनङ्गीकृत नहीं है। इसके अनन्तर काशी के गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज के अध्यक्ष डा० ग्रिफिथ ने चारों वैदिक संहिताओं का सुबोध अनुवाद अँग्रेजी में काशी में ही १८८६-६२ ई० के बीच प्रकाशित किया। यह अनुवाद विद्वत्तापूर्ण भले ही न समझा जाय, परन्तु मूल मन्त्रों के अर्थ समझाने में कम उपादेय नहीं माना जाता। १६०५ ई० में अमेरिकन विद्वान् डा० लैनमान और डा० ह्विटनी ने अथर्ववेद का प्रस्तावना और टिप्पणों से विभूषित एक बहुत ही सुन्दर अनुवाद हारवर्ड सीरीज़ (नं० ७ और ८) में दो विपुलकाय खण्डों में प्रकाशित किया। यह अनुवाद बहुत ही साङ्गोपाङ्ग, सर्वाङ्गीण तथा वैदुष्यपूर्ण है। डा० कीथ ने कृष्ण यजुर्वेद का जो अँग्रेजी अनुवाद १६१४ ई० में हाडवर्ड सीरीज़ (नं० १८-१६) में प्रकाशित किया है वह भी विद्वज्जनों की प्रशंसा का पात्र है। डा० गेल्डनर ने अपनी मृत्यु के पूर्व ऋग्वेद का एक महत्त्वपूर्ण जर्मन अनुवाद तैयार किया है, परन्तु अभी तक यह प्रकाशित नहीं हो पाया है।

अनुवादों का काम लाभदायक अवश्य है परन्तु इससे अधिक लाभदायक वे टीका ग्रन्थ हैं जिनमें सन्दिग्ध मन्त्रों के अर्थ की विवेचना बड़ी छान बीन से प्रचुर प्रमाण के आधार पर की गई है। ऐसे ग्रन्थों में डा० ओल्डनबर्ग के 'ऋग्वेद टिप्पण' का नाम अग्रगण्य है जिसमें विद्वान् लेखक ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के ऊपर उपलब्ध व्याकरण, कोष, छन्द सम्बन्धी सामग्री का नवीन शैली से एक महान् संग्रह उपस्थित किया है। डा० पिशल तथा गेल्डनर रचित 'वेदिशे स्तूदियन' (३ भाग) भी इस दृष्टि से व्यापक महत्त्वशाली तथा मननीय ग्रन्थ है।

समाप्त ॥